एक थकी हुई मुस्कान



हरिकान्त जेठवाणी

एक थकी हुई मुस्कान

हरिकान्त जेठवाणी

श्रीमती राधा जेठवाणी
57-B, 'राधे हरि', जीतेन्द्र पार्क
झांझरड़ा रोड,
जुनागढ़ - 362001

Published with financial aid of
Gujarat Hindi Sahitya Academy, Gandhinagar, Gujarat.

एक थकी हुई मुस्कान

(कहानी संग्रह)

लेखक : हरिकांत जेठवाणी

वर्ष : 2014

प्रतियां : 500

मूल्य : 150 रुपिया

प्रकाशक : श्रीमती राधा जेठवाणी
57-B, 'राधे हरि', जीतेन्द्र पार्क,
झांझरड़ा रोड, जूनागढ़-362001
M. : 08758186698

मुद्रक : स्केन कम्प्यूटर्स,
3, राधेश्याम अपार्टमेन्ट, पाटिया,
नरोड़ा रोड, अहमदाबाद-382345.
फोन : 079-30246776 मोबाईल : 09327007002

EK THAKI HUI MUSKAAN (STORIES)

Author	:	**HARIKANT JETHWANI**
Cover Page	:	Mehrwan Mamtani
Year	:	2014
Price	:	150/-
Copies	:	500
Published by	:	**SMT. RADHA JETHWANI** 57-B, "Radhe Hari", Jitendra Park, Jhanjharda Road, Junagadh-362001. M. : 08758186698
Printed by	:	**SCAN COMPUTERS** 3, Radheyshyam Apartment, Patia, Naroda Road, Ahmedabad-40. Phone : 079-30246776 (M) 09327007002

अनुक्रमणिका

मानवीय संवेदनाओं का स्नोफाल

हरिकान्त सिन्धी भाषा के यशस्वी कहानीकार रहे हैं। उनके अवसान को आज दो दशक होने जा रहे हैं, पर ऐसा लगता नहीं। मेरे जैसे उनके कई मित्रों के साथ की साहित्य-चर्चा तथा हंसी-मज़ाक की स्मृतियां, 'सिन्धी न्यूज़ रीडर' के रूप में अक्सर सुनाई देती रहीं उनकी आवाज़ की तरह, अब भी गूंजती हैं।

हिन्दी में साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित सिन्धी कहानी के प्रतिनिधि संकलन ''समकालीन सिन्धी कहानी संग्रह'' (सं. डॉ. प्रेम प्रकाश) - 2011 में शामिल उनकी कहानी ''एक थकी हुई मुस्कान'' के संदर्भ में दी गई उनकी अत्यंत संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणी-यहां भी सार्थक होगीः

[जैकबाबाद, सिन्ध (पाकिस्तान) कहानी सं. - 2, कविता सं. 5, नाटक -4, तथा अनूदित-3, पुस्तकें प्रकाशित। नये भाव बोध की नयी / छोटी कहानी में विशिष्ट योगदान। नयी कविता में भाषा की धमाकेदार शैली में अनोखी प्रस्तुति के लिए प्रख्यात कवि।

'सोच जूं सूरतूं' कविता संग्रह पर 1991 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सन्मानित।]

साहित्य अकादमी के सिन्धी में प्रकाशित ऐसे दो और संग्रहों में भी उनकी कहानियाँ 'पलटाउ' (1960-80) तथा 'सुरंघ' (1980-90) शामिल थीं।

वे, कहानी पत्रिका "आखाणी" के सम्पादन से, नयी सिन्धी कहानी के पुरस्कर्ता के रूप में भी उल्लेखित होते रहे हैं।

यह और बात है कि यशस्वी कवि नारायण श्याम की निकटता से वे 'तराइल' काव्य-स्वरूप के मुख्य कवि बनकर, फिर आक्रोश पूर्ण राजकीय व्यंगकी नयी-कविता के बड़े कवि बन गए और सिन्ध (पाकिस्तान) के सिन्धी साहित्य के विस्तृत फलकर उन पर सेमिनार तक हुए, या फिर हेम नागवाणी, जीवन गुरसहाणी, लक्ष्मण भाटिया 'कोमल' जैसे नाटक प्रवृत्ति के समर्थ महारथियों के साथ जुड़कर वे नाट्य लेखन व मंचन में अधिक सक्रिय तथा सफल रहे। पर उनका अन्दर का सर्जक 'कहानी' में ही ज्यादा कलात्मक सुकून पाता नज़र आता है। चाहे उन्होंने अपने समय में एक ही छोटा कहानी संग्रह "फहलजंदड़ु-रेगिस्तानु" प्रकाशित किया था। उनका दूसरा संग्रह "ज़ेब्रा क्रॉसिंग ते" उन्होंने तैयार किया 1992 में, उसकी भूमिका तक लिख रखी, पर उसके प्रकाशन के पहले 1994 में, हार्ट-अटैक से उनका अवसान हो गया। वह संग्रह बाद में उनकी पत्नी राधाजीने 1997 में संवर्धित रूप से प्रकाशित कराया था। जिस तरह यह हिन्दी संग्रह वे अब प्रकाशित कर रही हैं।

प्रस्तुत कहानियाँ : "फैलजंदड़ रेगिस्तानु" दो ऐसे चरित्रों की कहानी है, जो एक दूसरे के मन को 'गुलिस्तान' करने की आकांक्षा रखते हैं, पर खुल कर व्यक्त नहीं कर पाते। साल भंर, सदा सफेद साड़ी पहनने वाली संध्या के साथ सहकर्मी रहकर 'आत्मीयता' अर्जित करने पर भी वह सोचता है कि अब एक गांव की स्कूल के क्वार्टर में रहने वाली संध्या के बार-बार मिलने बुलाने पर यहां आ कर ठीक किया कि नहीं किया।

बाहर से सरल-चंचल, मज़ाकिया संध्या के वीरान तथा उलझन भरे हृदय की झन्कार उसे न तो सुनाई देती थी और न ही समझ में आती थी। यद्यपि दोनों इस फैलते जाते रेगिस्तान की सीमा देखने को तरस्ते दिखते हैं...

पारिवारिक शोषण, अंध श्रद्धा जैसा होता है। चुपचाप सहने वाले कठपुतलियों की तरह हो जाते हैं। बड़े भाई व भाभी तथा उनके बच्चों की देखभाल 'अंधश्रद्धा वश एक लादा हुआ कर्तव्य बन गया था। बैंक की कठिन नौकरी के उपरांत और यों उसकी जवानी थककर रूठने भी लगी थी। उस जैसी सहेली ने अब तो उसे दीदी कहना ठीक समझा। उसकी वेदना को समझने वाले जब 'असंवेदनशील' बन जाते हैं। ऐसे चरित्रों की मनोदशा एक कलाकार ही भांप सकता है और कहानी बन जाती है। ऑफिस से छूटकर, बस पकड़ने के लिए, चौराहे पार करना और ज़ेब्रा क्रॉसिंग पर रुक कर प्रतीक्षा करना उसका रोज़ का नियम सा बन गया था। उसे लगता था, वर्षों से वह वहीं खड़ी है- हरी लाइट की प्रतीक्षा में... वह रिश्तों के ट्राफिक सिग्नल पर अटकी हुई है... ज़िंदगी भी अजीब चौराहा है। इस 'पर्दा' कहानी में भी रिश्तों की परेशानी है। 'ज़ेब्रा क्रोसिंग' में जो रिश्ते बनने-बनाने की आकांक्षा है, यहां उससे छूटने पर चैन की सांस ली जा रही है। रिश्ते यहां 'स्वमान' की चोट बन कर 'कड़वे' बन्धन से बने हुए थे। उससे 'मुक्ति' को मंज़िल मानी गई है। अब वह अपने स्वतंत्र निर्णयों से खुश है। स्त्री सहारा नहीं, अब तो उसे अपने 'व्यक्तित्व' के ''अधिकार'' का अहसास चाहिये। 'पुरुष-प्रधानता' की मानसिकता एक दासता की दास्तान बन रही है। पश्चिमी, महानगरीय संस्कृति ''समर्पित'' प्रेम की विभावना से समझौता नहीं करती। समानता की

यह अभिव्यक्ति 'पर्दा' की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। 'अभाव' कहानी, अलबत्ता, हटकर है। वहां संवेदनहीनता की करूणा कहानी बनी है। लम्बे समय के कर्फ्यु में, खिड़की से बच्चे की दिखती लाश, पहले तो भूख से विचलित व्यक्ति को भी सहमा देती है। पर धीरे-धीरे उसके पास में रास्ते पर फैले आटे के गिरे हुए डिब्बे को देखकर वह सदमा करवट लेता है। अब वह लाश पहले जितनी भयानक नहीं लगती। भूख से त्रस्त उस लाचार गरीब के अपने पास आटे के अभाव में, सामने दिख रहे आटे के प्रति लालायित द्रष्टि से देखना, मानवीय संवेदना की संकट की घड़ी का परिचायक है।

एक सहृदय कलाकार की आंख ही ऐसे चित्र का निर्माण कर सकती है। पूरी कहानी का सूक्ष्म कलात्मक सर्जन उस स्थिति का निर्माण करने में सक्षम भूमिका निभाता ह। आपको बच्चे की लाश तथा उस गरीब की लालसा-दानों के प्रति न्याय करना मुश्किल हो जायेगा। यही तो कला है! 'ठहरा हुआ समय' भी एक अलग संवेदना की कहानी है। मां की ममता की तरह यहां पिता के स्नेह की व्याकुलता का चित्रण हुआ है। पुत्र ने तार दिया है कि वह ट्रेन से पहुंच रहा है। तीन घंटे के बाद पिता पुत्र से मिलना चाहता है। वह बेकरार है। गाड़ी 30 मिनट नहीं तीस साल लेट है। गाड़ी के हर डिब्बे में देख-देखकर पिता ने उसके लिए अनाऊंसमेन्ट से इत्तला दिलाने का भी प्रयत्न करके देखा। माइक से आवाज़ आती रही। उसके डैडी उसका इन्तज़ार कर रहे हैं। पर प्रकाश का पता न चला।

वह समय मोबाइल फोन वाला ज़माना न था। कहानी में पिता की प्रतीक्षा की घड़ियों में, ठहरा हुआ समय, अब भी, जैसे ठहर गया है।

कहानी यह भी रिश्तों की धरातल पर ही है। पर अपेक्षाएं टकरा कर दुख ही देती हैं।

एक यह पुत्र के रिश्ते की कहानी थी तो "उस स्नोफ़ाल" में भतीजी के प्रति उत्पन्न आत्मीयता की कहानी है। सुधा शिमला में रेडियो की स्टाफ आर्टिस्ट बन कर आई थी। अपना कमरा मिलने तक के कुछ दिन वह निर्मल के घर में रहने के लिए मौसी की चिट्ठी लेकर आई है। और कुछ दिनों के तस्कीन भरे सुकून बख़्श साथ को छोड़कर, अब वह अपने लिए अलग ढूंढे घर पर रहने जा रही है। निर्मल इस साथ के छूटने से आत्मीय दुःख का अनुभव करता है। जाना तो उसे था ही। पर फिर भी वह नया अकेलापन पाकर दुःखी है। आदमी का मूल स्वभाव स्वार्थी है। और यह कोई बुराई नहीं है। निर्मल शिमले के स्नोफाल में आया था। दूसरे साल के स्नोफाल से वह उस खुशी को याद करता है। कम बोलने वाला अर्न्तमुखी निर्मल अचानक आए एक सुखद अनुभव से, अपेक्षित रूप में ही उसके छूटने की क्षण का वह स्वागत नहीं कर सकता।

क्षणिक मोह की इस कहानी में पार दर्शक संवेदना तथा आत्मीयता का भावात्मक स्नोफाल महसूस किया जा सकता है। जैसे हम भी, उन दोनों के साथ शिमले के प्रसिद्ध चौराहे पर स्नेह का स्नोफोल एन्जॉय कर रहे हैं। वैसे भी, आज कहानी, कुछ होने की प्रतीक्षा किये बिना, होने-न-होने की प्रक्रिया में छुपी है, क्रिया तो प्रतिक्रिया में नहीं। यहां भी कहानी का सारा होना, निर्मल की प्रतीक्षा में बैठी सुधा को, निर्मल द्वारा उसके ललाट पर किये वात्सल्य भरे चुंबन में समाया है।

'एक थकी हुई मुस्कान' भी ऐसे ही एक धुंधले रिश्ते को सफेद काग़ज़ पर, सफेद स्याही से उस रिश्ते का नाम लिखने की कहानी है। जो दिखाई

तो देता है, पर पढ़ा नहीं जा सकता। जाने वह शब्द न होकर, संगीत का स्वर-संकेत का चिन्ह है।

'छाया' और 'निर्मल' के परस्पर के व्यक्तिगत स्तर के रिश्ते का खुद ही इच्छित अंत चाहने के बावजूद, मन अजनबी बनना कुबूल कहां करता है।

निर्मल को, उसका यही बग़ावती मन, स्टेशन पर विदाय करने ले जाता है, जब 'छाया' नौकरी और दिल्ली छोड़कर मुंबई जा रही थी। छाया ने तो फिर भी आत्मीयता भरे सारे शब्द फूलों की तरह बिखेर दिये पर, निर्मल ने वहां जा कर भी गाड़ी के साथ दौड़कर भी, ख़ामोशी को पकड़ रखा।

और जब अचानक एक दिन छाया की गंभीर बीमारी का पता लगने पर, वह मुंबई उसके घर भी जा पहुंचा। कैंसर से सस्मित लड़ती यह ब्रैव-गर्ल, अब भी निर्मल के लिए उतनी ही आत्मीय है। अशक्त तो है, पर खुद्दारी नहीं छोड़ी। समुद्र की लहरों से बातें करती ज़िन्दगी के जहाज़ को जाते देखने की हिम्मत रखती है। निर्मल उसके प्रति उतना ही हमदर्द बन कर प्रस्तुत होता है। पर अब जीवन की हारी बाज़ी को देखना और झेलना ही तो बचा है दोनों के लिए।

और असम्भव के विरुद्ध की उम्मीदें संजोये बैठे निर्मल को एक दिन छाया की मृत्यु का संदेश मिलता है। वह टूट पड़ता है। मन ही मन उसकी उस बालकनी में ही पहुंच जाता है। जहां समुद्र की लहरें दखिती है।

यह कहानी 'छाया' के सशक्त, आत्मीय व संचेतन व्यक्तित्व की कहानी है। निर्मल के आत्म-गौरव की अनुदार छबि के अपराध भाव की ग्लानिके स्वीकार की भी कहानी है। स्वाभिमान कब अभिमान बन जाता

है और कब उस में छल घुस जाता है - पता ही नहीं चलता।

हरिकान्त की यह रचना, मानवीय संवेदनाओं के स्नोफाल की अनुभूति कराने वाली सूक्ष्म, सफल, कलात्म रचना है। यह हरिकान्त ही की नहीं, सिन्धी भाषा की सशक्त रचना कह सकते हैं।

एक तरह से देखा जाय तो यह कहानी, हरिकान्तकी तमाम सुन्दर - सुन्दर कहानियों का एकअत्यंत सार्थक 'उपसंहार' है। एक ऐसा 'उपसंहार' जिसके बाद किसी और अच्छी कहानी की प्रतीक्षा करना ही हम, जैसे भूल जाते हैं।

हरिकान्त की ये तथा ऐसी अनेक कहानियां, ''मानवीय संवेदनाओं'' का स्नोफाल ही कह सकते हैं।

प्रो. नामदेव ताराचंदाणी

आभार-दर्शन

आदिपुर की बड़ी साहित्यक संस्था इंडियन इंस्टिट्युट ऑफ सिंधोलोजी ने हरिकांत के जन्म दिवस के उत्सव तथा उनके नाटक का भव्य मंचन करने के लिये और पिछले बीस सालों में, समय समय पर उनकी सात पुस्तकों के प्रकाशन के लिए जर्मनी, दिल्ही, अजमेर, आदिपुर, अहमदाबाद, वड़ोदरा के हरिकांत के मित्रों-दोस्तों के मिले अद्भुत साथ-सहकार के लिए मैं सभी का तहे दिल से आभार व्यक्त करती हूँ ।

राधा हरिकांत जेठवानी (जूनागढ़, गुजरात)

फैलता हुआ रेगिस्तान

बस उसे गाँव के बाहर मुख्य सड़क पर उतार कर धूल उड़ाती हुई आगे निकल गयी। शोल्डर बैग कंधे पर लटकाए वह कुछ देर वहीं खड़ा रहा। -स्थिर-और बस को तेज रफ्तार से दूर जाते, घड़घड़ाहट को मन्द पड़ते तथा आकार को छोटा और छोटा होते देखता रहा।

सामने जब कुछ नहीं रहा, तो उसने आस पास एक विहंगम दृष्टि डाली। उसे लगा वह यहां पहले भी आ चुका है। कोलतार की पतली लम्बी सूनी सड़क, दोनों ओर एक दुसरे से परे-परे खड़े अकेले उदास पेड़, दूर दूर तक फैली बंजर भूमि और उसकी असीम रिक्तता को भरने के लिए इधर उधर उगे कैक्टस के पौधे तथा बेनाम जंगली झाड़ियाँ जिन्होंने ढलते सूरज की पीली रोशनी में वातावरण की उदासी को और भी गहरा बना दिया था। उसे लगा यह सब वह पहले ही देख चुका है-देखता रहा है-प्रतिदिन- लेकिन कहाँ? यहाँ तो वह पहली ही बार आया था। फिर ऐसा आभास क्यों? फिर वही प्रश्न और प्रश्नों के उतर में उगते नए प्रशन।

प्रश्नों से पीछा छुड़ाने के प्रयास में उसे पता ही नहीं चला-कब उसने सड़क छोड़ कर बायीं ओर जाती अनाम पगडण्डी पर चलना शुरु कर दिया, कब एक भीमकाय काले बादल ने डूबते सूरज को लपेट कर समय से पहले अंधेरा फैला दिया, कब उसने टीला पार किया और हल्की हल्की बारिश में भीगता हुआ, गाँव के छोर पर, स्कूल के पास आक्रर उसके पाँव रुक गए।

गाँव जैसे कभी का सो चुका था। स्कूल के अहाते की सामने वाली दीवार के समानान्तर जाती कच्ची सड़क पर कोई हलचल नहीं थी। लकड़ी के प्रवेश-द्वार पर जंग लगे लोहे की कुण्डी चढ़ी थी। ऊपर आर्द्ध गोलाकार काले बोर्ड पर सफेद अक्षरों में स्कूल का नाम लिखा था। पढ़कर उसे संतोष हुआ। वह सही स्थान पर पहुंच गया था। लेकिन उसका वहाँ पहुंचना सचमुच सही था? शायद हाँ, शायद नहीं!

संध्या ने स्वयं ही तो बुलाया था उसे। एक बार नहीं अनेक बार। जब भी शहर आती उसे गाँव आने का निमन्त्रण दोहरा जाती। कहतीः महानगर में रह कर एकाकीपन और रिक्तता भर गयी है तुम्हारे भीतर। कभी गाँव आकर देखो न! शायद तुम्हे अच्छा लगे।

गर्मी की छुट्टियाँ शुरु होने से पहले उसने एक पत्र भी लिखा था और उसे बताया था- इन छुट्टियों में कहीं जाने का मन नहीं है मेरा। गाँव में ही रहूँगी। तुम आ रहे हो?

लेकिन वह अपना इरादा बदल कर कहीं चली गयी हो तो? उसका कोई भरोसा है? एक अजीब लड़की-बाहर से एकदम सरल, अन्दर से एकदम उलझी हुई। इतने सामीप्य के बावजूद वह उसे पूरी तरह से समझने की हामी नहीं भर सकता था।

शहर की नौकरी छोड़ते समय किसी को मालूम तक होने नहीं दिया। मुझे भी नहीं। मुझे ? मैं कौन लगता हूँ उसका ? एक वर्ष, एक दफ्तर में, एक साथ बैठकर काम करने, चाय पीने, लंच खाते साहित्यक बहस करने और कहकहे लगाकर हँस लेने से कोई किसी का कुछ बन जाता है क्या? लेकिन उससे हट कर क्या कुछ भी नहीं था उन दोनों के बीच ? फिर एक प्रश्न, जो निर्मल को अतीत में ले गया...

शिमला में बर्फ पड़ी थी। तेज हवाओं पर सवार सर्दी सैकड़ों मील सफर तय कर उनके शहर तक आ पहुँची थी। पूरा शहर ठिठुर गया था।

दफ्तरों में उपस्थिति आधी हो गयी थी। बिना बाहों वाला स्वेटर पहने दफ्तर में अपनी सीट पर बैठते ही साथ वाली सीट से प्रश्न हुआ था -

'कोट क्यों नहीं पहना आज ?'

'गर्मी लग रही थी।' निर्मल ने मुस्कराते हुए कहा था।

'अच्छा ! तो गर्मी के कारण कम्पन भी होती है ?'

'ड्राई-क्लीनिंग के लिए गया है मैडम।'

'एक ही है क्या ?'

निर्मल ने कोई उत्तर नहीं दिया था। सिर्फ देखा था उसकी ओर - आहत आँखों से । संध्या ने अपने प्रश्न पर पछता कर आँखें झुका लीं थीं और चाय का आर्डर देने के लिए टेलीफोन घुमाने लगी थी।

अगली सुबह ट्वीड के कुछ छोटे-छोटे सैम्पुलस निर्मल की मेज़ पर बिखेरते हुए संध्या ने पूछा था -

'इनमें से कौन-सी डिजाइन अच्छी है निर्मल ?'

'किसके लिए पसन्द करनी है?'

'किसी अपने के लिए।'

'तो उसी से पूछो न जाकर ।'

'पूछ तो रही हूँ।'

निर्मल सिहर गया था। थोड़ी-देर चुप रह कर उसने कहा था - 'उसे इन चीज़ों की आवश्यकता नहीं।' और कपड़े के टुकड़े हटा कर एक तरफ कर दिए थे। संध्या उस दिन अचानक तबियत खराब होने का कारण बता कर आधा दिन छुट्टी ले गयी और अपनी गर्म शाल टेबिल पर ही छोड़ गयी थी...

●

निर्मल ने अपने आपको स्कूल के सामने खड़ा पाया।

यंत्रवत् उसके हाथों ने कुण्डी खोल दी और वह अन्दर दाखिल हो

गया। सामने ही स्कूल की इमारत थी- लम्बी पंक्ति में खड़े पन्द्रह-बीस कमरे, सन्नाटे से भरा खाली-खाली वरामदा, एजबेस्डम शीट्स की ढालू छत। वह दायीं ओर चलने लगा। पगडन्डी पर बिछी लाल बजरी उसके बूट के नीचे चरमराकर एक अजीब सी आवाज पैदा करने लगी। निर्मल को लगा वह आवाज उसकी पहचानी हुई है। कुछ था जो उसके अन्दर चरमरा रहा था- न जाने कब से । चरमराहट का पीछा करते उसका मन फिर अतीत में खो गया।

'नहीं...निर्मल नहीं ...देखो...'

दोनों हाथों से चेहरा ढक कर संध्या अपने कमरे में इधर से उधर भाग रही थी और निर्मल गुलाल का लिफाफा लेकर उसके पीछे पीछे दौड़ रहा था।

'समझने की कोशिश करो निर्मल....मान जाओ।' लेकिन निर्मल नहीं माना था और संध्या को पकड़ कर उसके बालों में गुलाल छिड़क दिया था। संध्या चेहरे से दोनों हाथ हटा कर तन कर खड़ी हो गयी थी।

'अच्छा लो... पूरा ही रंग दो।'

और निर्मल ने उसके पूरे चेहरे पर दोनों हाथों से गुलाल मल दिया था। वह स्तब्ध खड़ी रही थी। निर्मल ने उसकी उस मुद्रा से घबड़ा कर प्रश्नवाचक आंखों से उसकी ओर देखा था।

'तुम कुछ नहीं समझते निर्मल...'

'कोई गलती हो गयी मुझसे?'

'तुम्हें यह भी मालूम नहीं कि हमेशा सफेद साड़ी पहनने वालों के साथ होली नहीं खेली जाती।'

'ओफ' अपनी गलती का अहसास होते ही निर्मल उदास हो गया था। संध्या से उसकी उदासी देखी नही गयी थी और उसने उसके हाथों से गुलाल का लिफाफा छीन कर सारा गुलाल उस पर उड़ेल दिया था और

उसके दोनों हाथ चूम कर अपनी आंखों पर रख लिए थे...

पगडन्डी बायीं ओर मुड़ गयी। निर्मल ने देखा, वह एक चौड़े मैदान में पहुंच गया था जिसमें जहाँ तहाँ घास उग आयी थी - पीली-हरी। मैदान के एक कोने में ही उसे एक क्वार्टर दिखायी दिया और उसके कदम तेज हो गए।

छोटा सा एक सफेद सुन्दर मकान-चारों तरफ बाउन्ड्री-वाल, लकड़ी का गेट, सफेद रोगन वाला-उसके ऊपर अर्द्ध- चन्द्राकार वाला लोहे का फ्रेम -बोगिन विला के फूलों से लदा हुआ, दायीं तरफ एक बगीचा रंग बिरंगे फूल गमलों में सजाए हुए।

अचानक अन्दर का दरवाजा खुला और एक महिला आकृति बरामदे से होकर उसकी ओर बढ़ने लगी।

'अरे...निर्मल...'

आवाज संध्या की ही थी जो अब गेट तक पहुंच गयी थी। निर्मल की आखें उसकी सफेद साड़ी पर अटक गयीं। हरे पतले बार्डर वाली वही सफेद साड़ी जो निर्मल ने अपने जन्म दिन पर उसे भेंट की थी।

'तुम..सचमुच आ गए हो!'

उसके स्वर में उत्साह था या आश्चर्य, वह तुरन्त समझ नहीं पाया। प्रत्युतर में उसके चेहरे पर सिर्फ मुस्कराहट उभर आयी थी।

संध्या ने उसके कंधे पर हाथ रखा।

'अरे तुम तो भीग गए हो। मकान ढूंढ़ने में दिक्कत हुई क्या? मैने तो तुम्हें सही रास्ता बताया था।' वह एक साथ बोल गयी। 'तुम चुप क्यों हो? अन्दर आओ न।' और उसका शोल्डर बैग उतार कर वह अन्दर चलने लगी।

'मेरे खटखटाने से पहले ही दरवाजा कैसे खोल दिया तुमने?'

'मुझे मालूम था तुम आ गए हो।'

'कैसे?'

'मैनें दूर से देख लिया था तुम्हें। छत पर बैठी थी न।'

'इस बारिश में छत पर क्या कर रही थी?'

'भीग रही थी और क्या कर रही थी !' और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी । निर्मल चुपचाप उसके साथ चलता रहा।

बगीचे के पास से गुजर कर, दो छोटी सीढ़ियाँ चढ़ कर, बरामदा लाँघ कर वे कमरे में पहुँचे। कमरे में अंधेरा था। निर्मल दरवाजे के पास ही रुक गया। संध्या विद्युत गति से बायीं ओर की संकरी गलियारी में गुम हो गयी और कुछ ही क्षणों में एक प्रदीप्त लालटेन लेकर कमरे में आयी और वह टेबिल पर रख कर बिना कुछ बोले वापस चली गयी। निर्मल ने कमरे पर एक दृष्टि डाली। कमरा काफी बड़ा था। दायीं ओर खिड़की के पास एक पलंग, बायीं ओर दीवार के साथ एक स्टडी-टेबिल, सामने वाली दीवार के पास, दो मोढ़े-बीच में एक तिपाई। चादर, मेज़पोश, खिड़की और दीवार के परदे सब सफेद और उजले, जैसे आज ही डाले गए हों-अभी अभी।

चाय के दो प्याले तिपाई पर रखते हुए संध्या ने कहा-

'बैठने के लिए लिख कर अर्जी देनी होगी क्या?'

दोनों मुस्कराते हुए आमने-सामने मोढ़ों पर बैठ गए। निर्मल ने सिगरेट से एक लम्बी कश लेकर छत की ओर धुआं फेकने के बाद पहली बार उसकी तरफ देखा और पहली बार महसूस किया कि संध्या उससे चार साल बड़ी है। उसकी सजीव आखों के नीचे हल्के काले गडढ़े और गहरे हो गए थे। चेहरा पहले से कुछ और ही लम्बा हो गया था। बाकी सब वैसा ही था-लम्बी नाक, पतले होंठ , साँवला रंग-जो लालटेन के मद्विम प्रकाश में और भी साँवला दिखायी दे रहा था।

'क्या सोच रहे हो?' कई दिनों बाद पूछा गया एक पुराना प्रश्न।

'कुछ नहीं।' कई दिनों बाद दिया गया एक पुराना उत्तर।

'यहाँ आकर अच्छा नहीं लगा?'

'नहीं, ऐसी बात नहीं।'

'तो चुप क्यों हो फिर?'

'मैं सोच रहा था...'

'बोलो न...'

टेबिल पर बिछे शतरंज बोर्ड की ओर देखते हुए निर्मल ने पूछा-

'यह शतरंज तुम किसके साथ खेलती हो?'

'अपने साथ' संध्या ने फट से उत्तर दिया। 'जब भी अकेलापन महसूस करती हूं, अपने को दो हिस्सो में बाँट लेती हूं और एक कल्पित विरोधी के साथ खेलने बैठ जाती हूँ।

निर्मल चुप।

'अरे...तुमने चाय अभी शुरू ही नहीं की? मैने देखो खत्म भी कर ली। पीओ न, ठंडी हो जाएगी।'

'मैं ठंडी कर के ही पीता हूं।'

''अरे हाँ, मैं भूल ही गयी थी।'

'न जाने क्या क्या भूल गयी हो तुम।'

'तुम शतरंज की बात कर रहे थे ? जिस प्रकार मैं खेलती हूं, पता है उसमें क्या फायदा है?'

'बताओ।'

'तुम बताओ।'

'काश, मैं शतरंज खेलना जानता।'

'उसमें जीत भी अपनी होती है, हार भी अपनी। इसलिए न जीतने की खुशी होती है, न हारने का गम।' फिर एक मुक्त ठहाका; जो ऊँची छत और चौड़ी दीवारों से टकरा कर सारे कमरे में बिखर गया।

निर्मल ने चाय का कप उठाया और एक घूंट पीकर उसे फिर तिपाई पर रख दिया।

तुम सोचते होगे, यहां आकर मैं बहुत हंसमुख हो गयी हूं। लेकिन ऐसे मौके बहुत कम मिलते हैं यहां। मुझे याद नहीं, मैं अन्तिम बार कब हंसी थी। याद करना होगा। दायीं तर्जनी ऊपरी होंठ पर रखकर वह सोचने लगती है।

हाँ... याद आया। चार पाँच महीने पहले, जब इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स दौरे पर आया था। मैनें उसे चाय पर बुलाया था। बुलाना पड़ता है - एक अनैच्छिक औपचारिकता। पता है क्या कहने लगा? कहने लगा, आप जैसी कार्य कुशल और योग्य प्रधानाध्यापिका ज़िले भर में नहीं देखी। आप बातें भी ऐसी रोचक करती हैं कि उठने को मन नहीं करता। जी चाहता है, यहीं रह जाऊँ और रात भर आपकी बातें सुनता रहूं। मैंने; पता है क्या कहा? कहा.. शौक से बैठिये, बातें, सुनिये, सुनाइये, लेकिन रात आपको वहाँ बितानी पड़ेगी- स्कूल के चोकीदार के साथ, और मैं अपनी हंसी रोक नहीं सकी थी- उसकी भोली होशियारी पर। खिसिया कर उसने भी साथ दिया था मेरी हंसी में... बेचारा।

चाय खत्म करके निर्मल ने एक और सिगरेट जलाते हुए कहा 'बाहर बग़ीचे में फूल ज़मीन पर न लगाकर गमलों में क्यों लगाये हैं।'

'फूलों को ज़मीन से बाँधने के पक्ष में नहीं हूं मैं। किसी के लिए भी, किसी प्रकार का बन्धन अच्छा नहीं लगता मुझे।'

'गमलों में बन्धन नहीं है, उनके लिए?'

'है। लेकिन उस बन्धन के साथ एक स्वतन्त्रता भी है। उनका स्थान कभी भी बदला जा सकता है और मैं बदलती रहती हूं। स्थिरता पसन्द नहीं है मुझे। कहते-कहते वह उठ खड़ी हुई- 'तुमने चाय पी ली? चलो तुम्हें घुमा लाऊँ बाहर।' उसने हाथ आगे बढ़ा दिया। निर्मल उसका हाथ

थाम कर उठ खड़ा हुआ।

गलियारे से गुज़र कर वे आंगन में पहुँचे। पीछे वाला दरवाजा खोलते हुए संध्या ने कहा- 'यहाँ एक नदी है। घर के बिल्कुल पास। वहीं चलते हैं।'

वर्षा बन्द हो चुकी थी। लेकिन आकाश में बादल छाए थे। किसी भी समय बरस सकते थे।

घर से निकल कर उन्होंने एक पगडण्डी पकड़ ली। दोनों साथ-साथ चलने लगे, शान्त अंधेरे से गुजरते हुए एक अनजान अंधेरे की ओर।

संध्या ने उसका हाथ जोर से पकड़ रखा था। वही कसाव, वही गर्मी जिसका अर्थ वह अभी तक नहीं लगा पाया था।

अचानक उसका हाथ छोड़ते हुए संध्या ने उत्साह से कहा 'नदी आ गयी...नदी आ गयी - देखो...'

'कहाँ है?'

'यहाँ तो है। सामने। किनारे पर खड़े हैं हम।'

'तो यही है नदी?'

'हां।'

'इसमें पानी कहाँ है?'

'पानी बानी तो नहीं है इसमें। बिल्कुल नहीं।

निर्मल को लगा संध्या का स्वर बदल गया है। उसने आगे कुछ नहीं पूछा।

'नदी के अन्दर चलें? ठण्डी रेत पर बैठने में मजा आएगा। यहीं से रास्ता है...'

निर्मल इंकार नहीं कर सका। दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नीचे उतर गये।

संध्या जिसे नदी बता रही थी, निर्मल को वह एक मैदान-सा लगा-

रेत का एक लम्बा-चौड़ा मैदान। सिर्फ दो तरफ से किनारे खड़े थे जो 'नदी' के फैलाव की दृष्टि से बिल्कुल बौने लग रहे थे।

'यहाँ सचमुच पानी आता है?' निर्मल ने पूछा।

'हाँ...क्यों नहीं। मैने अपनी आंखों से देखा है। कभी कभी तो सैलाब आ जाता है। मैं छत पर बैठ कर देखती हूं। हमारी बाउण्ड्री वाल तक पानी आ जाता है। रात को जब गाँव सो जाता है। और नदियाँ जागती रहती हैं तो मैं खिड़की के पास बैठ कर उसकी आवाज सुनती रहती हूं। कितनी प्यारी लगती हैं!'

'इसकी यह हालत क्यों ?'

'इसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है न, इसलिए। यह वर्षा पर आश्रित है। वर्षा होती है तो इसकी प्यास मिटती है। नहीं होती है तो शुष्क रह जाती है-सालों- साल।'

फिर एक लम्बी चुप्पी! खामोश अंधेरे में लिपटी, ठंडी रेत पर बैठी दो आकृतियां- जैसे एक दूसरे के पास पड़े हुए दो पत्थर।

घटाओं की गरज ने शांति भंग कर दी। बिजली की क्षणिक चमक में निर्मल ने संध्या की आंखों का गीलापन देख लिया। दो चमकते मोती-जो प्यासी नदी की रेत में गिर कर विलीन हो गये- अनदेखे।

'संध्या...तुम...' निर्मल ने कुछ कहना चाहा।

'तुम्हें प्यास तो नहीं लगी ?' संध्या ने अपने प्रश्न से निर्मल के प्रश्न को बीच में ही काट दिया। निर्मल को उसका प्रश्न बेतुका लगा। संध्या ने सहज भाव से बात जारी रखते हुए कहा 'प्यास लगी हो तो पानी मिल सकता है। इसी नदी से। इसी समय । इसी स्थान पर।'

निर्मल आशंकित दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा। संध्या वहाँ बैठे-बैठे ही दोनों हाथों से रेत हटा कर गड्ढ़ा सा बनाने लगी। लगभग एक फुट की गहराई तक रेत हटाने से नीचे पानी जमा हो गया। अंजुली भर कर

निर्मल की ओर फेंकते हुए उसने विजयी स्वर में कहा- 'देखा...?'

निर्मल अवाक रह गया।

'नदी स्वयं भले ही प्यासी हो, अपने अन्तस्तल तक पहुंचने वालों की प्यास बुझाने की क्षमता रहती है उसमें।' निर्मल ने उसका हाथ खींच कर चूम लिया।

'अब चलें?' संध्या ने धीरे से हाथ छुड़ाते हुए कहा। दोनों उठ खड़े हुए।

किनारा पार कर लेने के बाद संध्या रुक गयी। 'मैं तुम्हे एक बात बताना तो भूल ही गयी।'

'क्या?'

'यहाँ एक रेगिस्तान भी है।'

'रेगिस्तान?'

'पहले नहीं था। था भी तो कहीं बहुत दूर। लेकिन रेंगता हुआ अब वह गाँव के पास पहुँच चुका है और फैलता ही जा रहा है। 'संध्या ने एक लम्बी साँस ली।

'फिर ?'

'मुझे नदी पर दया आती है!'

'उसके फैलाव को रोका नहीं जा सकता?'

'कोशिश हो रही है। नदी के उस पार दूर वह काले-काले घब्बे देखते हो?'

'पेड़ हैं शायद।'

'हाँ, घने पेड़ों का एक जाल, जिसमें फंसाकर रेगिस्तान को गाँव से दूर रखने की चेष्टा की जा रही है। लेकिन...'

'लेकिन क्या?'

'वह रुकने वाला नहीं। गाँवो के गाँव निगल चुका है। अब इस गाँव की बारी है। इस नदी की बारी...' एक ठंडी साँस लेकर उसने अपनी

बात समाप्त कर दी।

निर्मल ने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा, 'चलो -च...'

गीली पगडण्डी पर सँभल-सभँल कर पाँव रखते हुए दोनों चलते रहे-मौन। निर्मल को लगा वापसी में रास्ता लम्बा हो गया है या अंधेरे में वे रास्ता भूल गये है।

'हम सही रास्ते पर चल रहे हैं न?'

'अभी तक तो सही है...'

क्वार्टर में पहुँच कर संध्या सीधी रसोई में चली गयी और निर्मल कमरे में जाकर स्टडी-टेबिल के पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। सिगरेट सुलगा कर वह मेज पर दीवार के साथ लाइन में लगी किताबों को उलट-पुलट कर देखने लगा। अधिकतर पुस्तकें कविताओं की थीं। निर्मल का वह कविता संग्रह भी था जिसकी प्रथम प्रति उसने संध्या को भेजी थी। और संध्या ने आभार प्रकट करते हुए अपनी संक्षिप्त राय भी लिख भेजी जी- 'अतीत के पंछी को पिंजरे में पकड़ रखने का सफल प्रयास किया है तुमने। लेकिन तुम्हें तो मालूम है मुझे किसी प्रकार का पिंजरा पसन्द नहीं। चाहे वह सोने की सलाखों का हो, चाहे स्वर्ण शब्दों का। वैसे कविताएँ बहुत पसन्द आयीं।'

कुछ अनमने भाव से पृष्ठ पलटते हुए उसे अपनी ही कविताएँ अन-पहचानी सी लगीं।

'फिर खो गये न अतीत में'। चाय का कप टेबिल पर रखते हुए संध्या ने कहा। उसके चेहरे पर एक कड़वी मुस्कराहट थी।'

'विश्वास ही नहीं आता कि ये कविताएँ मैंने लिखी हैं।'

'कुछ क्षण ऐसे आते हैं जिनमें व्यक्ति अपने आपको भी अजनबी समझने लगता है। कटा हुआ महसूस करता है अपने आपको - अतीत से।'

'क्या रह जाता है शेष?'

'वर्तमान। जिसका अपना अलग अस्तित्व होता है।'

'अतीत की स्मृतियों और भविष्य की संभावनाओं, आंशकाओं का कोई दखल नहीं होता उसमें?'

'होता होगा, लेकिन केवल उनके लिये जो भावुक होते हैं, अति भावुक।' निर्मल के बालों में अंगुली घुमाते हुए उसकी मुस्कराहट खिलखिलाहट में बदल गयी।

निर्मल ने पुस्तक धड़ाम से बन्द करके चाय का कप उठा लिया- तुम्हारी चाय?'

रसोई में। वहीं पीऊँगी। खाना भी तो बनाना है तुम्हारे लिए।'

'अपने लिए नहीं?'

'अपना तो बना पड़ा है। दोपहर को ही एक साथ बना लेती हूँ। रात को गर्म करके खा लेती हूँ। कहते-कहते वह रसोई में चली गयी।

निर्मल सोचने लगा- क्या यह वही संध्या है जो दफ्तर में - कैंटीन से न मँगा कर एक मँहगे होटल से मँगाती थी- हर रोज नये-नये व्यंजन- और जिस दिन वह छुट्टी पर रहता था वह उपवास कर लेती थी...

कविता की पुस्तक में से एक पन्ना झांक रहा था। उसने खींच कर निकाल लिया। लिखावट संध्या की ही थी। उसे सामने रख कर दोनों कुहनियाँ मेज पर टिका कर वह पढ़ने लगा–

'डायरी लिखने और लिख कर संभाल रखने का शौक कभी का समाप्त हो गया है। पिछली सर्दियों में मैनें अपनी सभी डायरियाँ जला दीं। अतीत के एक एक प्रष्ठ को फाड़ कर अंगीठी में डालती गयी। थोड़ा-सा प्रकाश, फिर अंधेरा और राख। थोड़ा सा प्रकाश, फिर अंधेरा और राख। कब तक संभालती उस राख को?

'कई दिनों बाद, आज फिर कुछ लिखने का मन हुआ है।

'सपने मैं नहीं देखती। लेकिन रात एक सपना देखा। नदी में पानी आया है। वह पूरी भर गयी है। किनारे गुम हो गए हैं। मैं छत पर बैठी देख रही हूं। नदी को तेज धारा में दो आकृतियां बहती जा रही हैं–खिलखिलाती हुई । अचानक लगा वे आकृतियां और किसी की नहीं- मेरी और निर्मल की हैं। लेकिन मैं तो छत पर बैठी उन्हें देख रही थी। फिर कौन सी संध्या वास्तविक थी? निर्मल का हाथ पकड़े धारा में बहती हुई चंचल संध्या जो छत पर बैठी मौन संध्या को देखती जा रही थी? या वह संध्या जो तटस्थ होकर यह सब देख रही थी? कौन-सी संध्या वास्तविक है? कौन सी संध्या? शायद दोनों ही। शायद दोनों ही नहीं। बकवास । सब बकवास...!'

निर्मल को लगा समय जैसे ठहर गया है। उसे ऊब और थकान महसूस हुई। कुर्सी छोड़ कर वह पलंग की ओर बढ़ा । दो सिरहाने दीवार के साथ लगा कर अध लेटे ही उसने एक और सिगरेट सुलगाई और अपनी आने वाली कल की वापसी-यात्रा की कल्पना में खो गया–

फिर वही पगडण्डी। पगडण्डी पर बिछी लाल बजरी। बजरी से उठती चरमराहट। कोलतार की पतली लम्बी सूनी सड़क । दोनों ओर एक दूसरे से परे परे खड़े अकेले उदास पेड़। दूर दूर तक फैली बंजर भूमि। असीम रिक्तता। प्यासी नदी और रेंगता हुआ रेगिस्तान -जो अब उसके भीतर फैलता जा रहा था- गहरा ।

ज़ेब्रा-क्रॉसिंग पर

बैंक की बहु-मंजिली इमारत से बाहर निकलते ही यन्त्रवत् उसका बायां हाथ उसी कंधे पर लटकते हुए जूट के खुरदरे शोल्डर बैग की ओर चला गया। लंच-बाक्स जो आज उसने खोला ही नहीं था, छोटी सी डायरी जिसके प्लास्टिक कवर की तह में वह रुपए रखती थी, पेन, दो रूमाल और साप्ताहिक पत्रिका-उसकी ऊँगलियाँ इन इनी गिनी और जानी पहचानी चीजों को छूती हुई फोल्डिग छत्री पर पहुँचकर रुक गईं। उसने आसमान की ओर देखा। चारों तरफ उँची उँची इमारतें- एक दूसरे से सटी हुई- बीच में एक चौकोर आकाश और उसमें मंडराती हुई सितम्बर के अन्तिम सप्ताह की एक छोटी सी बदली घुनी हुई रूई की तरह नर्म और सफेद-इधर से उधर दौड़ती हुई छुटकारा पाने को आतुर।

लोहे की गेट पार करते हुए उसे महसूस हुआ ग्रीष्म की तीव्रता खत्म हो चुकी थी और वर्षा ऋतु लौटने लगी थी। वातावरण में सिर्फ उमस बाकी थी। उसने छत्री न निकाल कर रूमाल निकाल लिया और बस-स्टाप की दिशा में चलते हुए अपना साँवला चेहरा पोंछा। रूमाल गीला नहीं हुआ। उस पर केवल कुछ काले निशान बन गए।

बस-स्टाप उसके दफ्तर से ज्यादा दूर नहीं. करीब दो फर्लांग होगा। लेकिन वहां तक पहुँचने के लिए एक चौराहा पार करना पड़ता है।

ज़ेब्रा-क्रासिंग पर पहुँचकर वह रुक गई। सामने लाल बत्ती थी। जब भी वह यहाँ पहुचती, बत्ती अक्सर लाल ही होती। न चाम्हते हुए भी उसे यहाँ रुकना ही पड़ता। रुकावट के ये कुछ पल भी उसे बहुत भारी लगते।

कभी कभी उसे सन्देह घेर लेता-यातायात नियंत्रक में अवश्य कोई ख़राबी आ गई है- लाल बत्ती अब कभी हरी नहीं होगी-उसे वहीं इन्तजार करना होगा-वहीं, जहाँ पिछले कई वर्षों से वह थी–

–सुबह उठते ही रसोई में जाना, भाई साहब और भाभी जी को बेड -टी देना, नाश्ता बनाना,पिंकी और राजू को जगाकर तैयार करना, उन्हे स्कूल बस में चढ़ा आना, खुद तैयार होना, बस में धक्के खाकर बैंक पहुंचना, ओवर-ड्राफ्ट विभाग में दिन भर खाता वही लिखना, शाम को थक कर घर लौटना, रात का खाना बनाना और धुंधले सपनों में खोकर सो जाना–

आज भी ऐसा ही हुआ था, कल भी, परसों भी, उससे पहले और उससे पहले भी।

एक फुट ऊँची फुट-पाथ पर खड़े कभी कभी उसे लगता वह सड़क के किनारे नहीं, एक नदी के किनारे खड़ी है, जिसमें बाढ़ आई हुई है और सैंकड़ों बसे, मोटरें, टैक्सियाँ, स्कूटर, साइकल, बाढ़ के तेज़ बहाव में लुढ़कती चली जा रही हैं। फिर अचानक धारा का रुख बदल जाता और उसके देखते-देखते सभी प्रकार के वाहन विपरीत दिशा में बहने लगते उसी रफ्तार से।

ज़ेब्रा-क्रॉसिंग पर हरी बत्ती होते ही एक ओर बाढ़ आई-जैसे कोई बाँध टूट गया हो। इस प्रवाह में वह भी बहती जा रही थी। कोलतार की चौड़ी सड़क पर छपी अट्ठाईस मैली सफेद पट्टियाँ पार करते हुए उसे अचानक याद आया- भाभी ने आज जल्दी घर लौटने को कहा था। वेल्फेयर एसोसिएशन ने कम्युनिटी सेन्टर में कठपुतली का तमाशो आयोजित किया था। पिंकी और राजू को वहाँ ले जाना था। खेल तमाशों में उसकी जरा भी रुचि नहीं। लेकिन अपनी रुचि की गुन्जाइश ही कहाँ है। घर में शान्ति और सुसम्बन्ध कायम रखने के लिए दूसरों की इच्छाएं ओढ़कर संतुष्ट रहना अब आदत बन गई थी उसकी।

बस-स्टाप पर पहुँच कर उसने देखा क्यू इतनी लम्बी नहीं थी। दस बारह व्यक्ति होंगे। इसका मतलब थोड़ी ही देर पहले बस जा चुकी है। अगली बस बीस मिनट से पहले तो नहीं आएगी –

हैलो दीदी–

बैंक की कैन्टीन में पहली बार अपनी एक नई सहेली द्वारा अपने लिए यह सम्बोधन सुन कर वह पल भर स्तब्ध रह गयी थी। न जाने कैसे कैसे सवाल एक साथ उसे मस्तिष्क में कौंध गए थे और उसे पहली बार अपनी आयु का एहसास हुआ था।

‘‘किस सोच में डूबी हो दीदी....’’

उसने मुड़ कर पीछे देखा। सरला और उसके साथ उसी उमर की एक अपरिचित लड़की उसकी ओर देख कर मुस्करा रही थी।

‘‘इसे जानती हो दीदी...’’

‘‘कभी देखा नहीं...’’

‘‘ये हैं मिस...नहीं...नहीं...नहीं... मिसेज कान्ता। कैश सेक्शन में आई है। करीब एक महीना हुआ। आते ही लम्बी छुट्टी पर चली गई थी...शादी करने। आज नैनीताल से वापस आई है... हनीमून मना कर...’’

सरला ने अपनी सहेली का परिचय देना पूरा किया उससे पहले उसने कान्ता को सर से पाँव तक देख लिया। सफेद सैंडल से झांकती पतली ऊँगलियों के लम्बे नाखूनों पर करीने से लगाई गई नेल-पालिश, फूल जैसा खिला-खिला चेहरा और घने काले बालों के बीच चमकता सिन्दूर...

‘‘... और ये हैं हमारी दीदी...’’ सरला ने उसका परिचय देना शुरु किया...

‘‘बैंक की सीनियर मोस्ट महिला असिस्टेन्ट – ओवर-ड्राफ्टींग सेक्शन में हैं। दिन भर लेजर लिखती रहती हैं या कहानी कविता। लेकिन सुनाती किसी को नहीं। लन्च टाईम कैन्टीन की बजाय लाईब्रेरी में गुजारती हैं

और–"

"बस—बस—बहुत हो गया" उसने सरला को बीच में ही टोक दीया और कहा, "तुम दोनों बातें करो, मैं वहां बैठी हूं। बस आए तो बुला लेना" और उनके उत्तर की प्रतिक्षा कीए बिना वह पास वाली सफेद इमारत की बाउन्ड्री-वाल की ओर बढ़ गई।

बाउन्ड्री-वाल और इमारत के बीच काफी जगह थी जिसमें एक छोटा सा बगीचा बनाया गया था –हरी हरी घास, तीन तरफ मेहंदी और बाउन्ड्री-वाल के साथ लगाए गए रंगबिरंगे फूलों के पौधे। इमारत में किसी विदेशी फर्म का दफ्तर था। बग़ीचे की अच्छी देखभाल से फर्म का वैभव झलकता था।

क्यू में खड़ी होकर बस की प्रतीक्षा करते पैट्रोल और डीजल की बदबू और धूँए से जब भी उसका दम घुटने लगता, वह सड़क से दूर इसी बाउन्ड्री-वाल पर आकर बैठती- हरी हरी घास,मेंहदी और फूलों को देखते हुए सुकून मिलता था कभी-कभी अपने आप में खोकर अपने पर सोचने का मौका मिल जाता था। वैसे उसके बारे में सोचने की फुर्सत या ज़रूरत किसी को थी। सब अपने लिए सोचते हैं–

घर वाले –

हायर सैकेण्डरी तक पढ़ाकर एम्प्लायमेंन्ट एक्सचेन्ज के बाहर लाइन में खड़ा कर दिया। यह तो मेरी अपनी जिद्द थी कि पड़ोस की लड़कियों को टयुशन देकर, आत्मनिर्भर बन कर प्राइवेट्ली बी०ए० कर लिया और बैंक की परीक्षा में पास होकर अच्छी नौकरी हासिल कर ली।

पहली तनखाह मिलने पर जब भाई साहब के हाथ में दी थी तो भाभी ने कितनी सादगी से कहा था "तुम्हारी कमाई कैसे ले सकते हैं हम? अपनी ही बैंक में अपने नाम एक खाता खुलवा लो आगे चल कर ये रुपये तुम्हारे ही काम आएंगे। हाँ तुम्हें नौकरी मिलने की खुशी में गैस अवश्य लेंगे। तुम्हें ही सुविधा रहेगी।"

और भाई साहब ने अपने प्रभाव का सदुपयोग कर उसी महीने गैस का प्रबन्ध कर लिया था।

फिर उसी के नाम पर घर को 'देखने लायक' बनाने का एक ऐसा अभियान शुरू हुआ कि धीरे-धीरे घर का नकशा ही बदल गया। घर के पिछवाड़े खाली पड़ी जगह के आधे हिस्से में एक अतिरिक्त कमरा बनवाया गया। दो चार महीने की तनखाह जमा होते ही भाई साहब या भाभीजी की घर को देखने लायक बनाने की चिंता फिर जाग उठती जिसका निवारण करने के लिए उसे अपने रुपयों को कभी सोफा सेट में परिवर्तित करना पड़ता कभी डबल-बेड में।

अब तो वह अनेक रूप और आकार लेकर रसोई घर से ड्राइंग रूम तक बिखर चुका था। कुक्कर, मिक्सी, वार्ड-रोब, टी०वी०, फ्रिज, टेपरिकार्डर, घर की जिस चीज को देखती उस पर उसे अपनी छाप नजर आती। आवश्यकता, सुविधा और आनन्द विलास के अनेकानेक साधनों से भरे-भरे घर को देख कर उसे खुशी तो होती ही लेकिन उस खुशी में एक हलकी सी निराशा भी शामिल रहती। उसे लगता घर को भरने के प्रयास में वह अपने आप को खाली करती गई है। खालीपन–जिसको उसके सिवाय कोई नहीं समझता।

हवा का एक हलका झोंका अपने अदृश्य आंचल में फूलों की सुगंध लेकर उसके पास आया। उसने मुड़ कर बगीचे की ओर देखा। फूलों के नन्हे नन्हे पौधे नाच रहे थे– मन्द मन्द शर्मीले बच्चों की तरह। फूल और बच्चे उसे कमजोरी की हद तक भाते थे। उसकी इसी कमज़ोरी का लाभ उठा कर भाभी ने उससे पिंकी का बीमा करवा लिया था – बीस साल आगे चल कर उसके विवाह में काम आने के लिए और साथ ही राजू के नाम दस वर्ष का रिकरिंग जमा खाता भी खुलवा लिया था–उस की उच्च शिक्षा के लिए। उसे फिर याद आया –आज उनको कठपुतली का तमाशा दिखाने ले जाना है। दोनों तैयार बैठे अधीरता से इन्तज़ार कर रहे होंगे

और भाभी उत्तेजित हो रही होगी–उन पर भी और मुझ पर भी।

उसने क्यू की ओर देखा। काफी लम्बी हो गई थी, लेकिन बस नज़र नहीं आ रही थी।

खुरच खुरच की आवाज़ से उसका ध्यान फिर बगीचे की ओर चला गया। बूढ़ा माली खुरपा लेकर पौधों के आस पास उगी घास को जड़ से काट कर फेंकता जा रहा था। उसे याद आया इसी माली ने एक बार बताया था -खर-पतवार पौधों को पूरा विकसित होने नहीं देते -यह काले गुलाब का पौधा ही देखो - अब तक यह कम से कम ढाई फीट ऊंचा हो जाना चाहिए था और उसमें कई फूल खिल जाने चाहिए थे - लेकिन....

"बस आ गई दीदी..."

एडवान्स-बुकर टिकट पहले ही दे गया था । सरला ने दाएं हाथ की उंगलियों में थामे टिकट हिलाते हुए उतावलेपन से कहा - "जल्दी आओ न दीदी...."

बस एक ही फर्लांग चल कर रुक गई। फिर वही लाल बत्ती। खिड़की के बाहर झांकते हुए अब उसको महानगर के जीवन पर खीझ सी होने लगी। अजीब परेशानी है - लोग पैदल हों चाहे बस में, अपनी इच्छा से रास्ता तक पार नहीं कर सकते। यंत्रों के इशारों पर चलना पड़ता है –

पीछे वाली सीट पर बैठी कान्ता, सरला को अभी तक नैनीताल के अपने मधुर अनुभव सुनाने में मग्न थी –

चारों तरफ पहाड़ – ऊंचे ऊंचे पेड़ –हवा में गाते हुए से – बीच में नैनी झील – और उसमें नौका-विहार –

उसे लगा यह सब उसने भी देखा है – पहाड़, गाते हुए पेड़ और उसके बीच एक नीली झील। लेकिन मैं नैनीताल तो कभी गई नहीं। फिर, कहां देखा यह सब –

माऊंट आबू में – शायद – चार साल पहले –

अहमदाबाद से भाभी के मायके होकर लौटते हुए। दो दिन ठहरे थे। कुछ भी अच्छी तरह देख नहीं पाई। दलवाड़ा मन्दिर तक नहीं देखा। भाई साहब और भाभी अकेले देख आए थे। मैं पिंकी और राजू को होटल में संभालती रही थी – आया की तरह। केवल सन्-सेट पाइंट और नकी झील देखी थी – किनारे पर बैठ कर – कोई मधुर स्मृति नहीं –

बस के अन्दर शोर और अन्धेरा बढ़ता जा रहा था। उसने सर में हलका हलका दर्द महसूस किया और आँखें बन्द कर लीं।

आँखें बन्द होने के बावजूद उसे अहसास था कि बस कहाँ से गुज़र रही है। जैसे-जैसे घर नज़दीक आता जा रहा था उसकी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। भाभी के तेवर असली जगह पर कायम रखने के लिए, भाई का खिंचाव नियंत्रित रखने के लिए और पिंकी तथा राजू की हर तमन्ना पूरी करने के लिए वह क्या कुछ नहीं करती। फिर भी –

गेट के अन्दर कदम रखते ही उसको उसी स्थिति का सामना करना पड़ा जिसकी उसे आशंका थी और जिस से बचने के लिए बस से उतरते ही वास्तव में वह दौड़ती-सी घर पहुंचती थी।

बरामदे में भाभी दोनों बाहें बांधे आराम कुर्सी पर अध-लेटी थी। बच्चे चेहरा लटकाए दीवान पर बैठे थे । उनकी गीली आँखों को देख कर उसे लगा उन्हें थप्पड़ मार कर चुप कराया गया था। उसको देखते ही दोनों उसकी ओर लपके और अपनी सारी व्यथा विशेष स्वर में कहे एक ही शब्द में व्यक्त कर दी –

दी–दी–

अपना सर दर्द, दिन भर की थकान और मानसिक पीड़ाएं भूल कर वह अपने चेहरे पर प्रयत्न से एक मुस्कान खींच लाई।

अरे तुम तैयार बैठे हो – अभी चलते हैं –

और शोल्डर-बैग वहीं रख कर रूमाल से चेहरा पोंछते हुए कहा – चलो –

बड़े बड़े कदम उठाते हुए कम्युनिटी-सेन्टर की ओर बढ़ते हुए उसे लगा वह अभी घर की तरफ जा रही है। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह घर से होकर आई है। जब देखा कंधे पर शोल्डर-बैग नहीं है और पिंकी और राजू बतियाते हुए उसके पीछे-पीछे आ रहे है तब जाकर विश्वास हुआ कि वह घर गई थी। पीछे मुड़कर उसने कहा, "जल्दी चलो–भाई– तमाशा शुरू हो जाएगा –"

और तमाशा सचमुच शुरू हो चुका था। छोटा-सा हाल पूरा भरा हुआ था। दर्शक अधिकतर बच्चे थे और महिलाएँ–फर्श पर बिछी चटाई पर बैठे हुए। दोनों बच्चों को साथ लिए हुए वह एक कोने में दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गई। उसका अंग-अंग टूट रहा था। दीवार पर पीठ टिकाने से उसे कुछ राहत मिली। फिर उसने मंच की ओर देखा।

शुरू शुरू में उसे कुछ समझ में नहीं आया। दो बड़े-बड़े तख्त - दाएं-बाएं और ऊपर सफेद पर्दे - बीच की खाली जगह पर रंगबिरंगे वस्त्र पहने लकड़ी की बनी हुई कुछ छोटी-छोटी मूर्तियां – अदृष्य डोरियों में बंध कर इधर से उधर उछलती हुई – कुछ अजीब अजीब आवाज़ें – जो उनकी नहीं थी, लेकिन उनके मुंह में डाली जा रही थीं। इन सबसे उसे क्या वास्ता? उसे ऊब महसूस होने लगी। फिर भी वह वहीं खड़ी रही - विवश।

अचानक उसकी दृष्टि मंच पर नाच-नाच कर एक कोने में चुपचाप खड़ी एक कठपुतली पर केन्द्रित हो गई। उसने ध्यान से देखा – उसमें कुछ था जो अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। एकटक – उसकी ओर देखने से उसे लगा वह मंच पर खड़ी की गई किसी कठपुतली को नहीं, स्वयं अपने आप को देख रही थी। उसकी आँखें और भौहें और होंठ और नाक, पूरा चेहरा यथावत उससे मिलता था। वह अवाक् हो गई और अपलक उसकी ओर देखती रही और देखती रही...

पर्दा

एयर कण्डीशन्ड शोरूम से बाहर निकलने पर तापमान में अचानक परिवर्तन के बावजूद अचला को वह घुटन महसूस न हुई जो ऐसी स्थिति में अक्सर होती है। इस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया, कॉरीडोर में पहुंच कर उसने अपने दाएं हाथ वाला खाकी लिफाफा ऊपर उठा कर उस पर एक नज़र डाली, गहरी नीली स्याही में छपे बड़े-बड़े अक्षर – सर्वोत्तम पर्दों के प्रसिद्ध शो-रूम का अधिकार-चिन्ह, बिल्कुल वैसा जैसा वह हर रोज़ प्रमुख समाचार-पत्रों में देखती थी और सोचती थी।

लिफाफे को देखते हुए उसके मन में खुशी की एक तरंग उठी, होठों पर हल्की-सी मुस्कराहट छा गयी जिसका किसी पुराने प्रसंग से कहीं कोई सम्बन्ध था और जो उसके अन्तर्मन के अन्धेरे कोने से सरकती हुई बाहर आई थी।

मार्केट बन्द होने का समय हो रहा था लेकिन कॉरीडोर की भीड़ में कमी नहीं आयी थी, शोकेसों में झांकते हुए अध-चलते अनेक लोग एक-दूसरे से एकदम उदासीन, अचला ने देखा, गोलाकार कॉरोडोर में अधिकतर लोग दायीं ओर जा रहे थे। घड़ी की सूइयों की दिशा में, उसने बायीं ओर चलना शुरू किया।

कॉरीडोर में धीरे धीरे अन्धेरा उतरने लगा था, जिससे शो-केसों की चमक-दमक भी बढ़ने लगी थी, एक-एक शौकेस को ध्यान से देखती हुई वह धीमी रफ्तार से चल रही थी, लेकिन उसे लगा वह एक ही जगह खड़ी है, दुकानें उसके सामने चल रही थीं – घूमते हुए मंच की तरह, वह एक

दर्शक मात्र थी।

कॉफ़ी हाउस।

घूमता हुआ मंच रुक-सा गया।

... वह कॉफ़ी हाउस के सामने खड़ी थी – विवाह के एक महीने बाद, दोपहर को टेलीफोन आया था –

"हैलो..."

"हैलो..."

एक कठोर और एक कोमल आवाज टेलीफोन के तारों पर आपस में टकरा गयी थीं।

"कौन बोल रहा है ?"

"मं अचला...आप?"

"मुझे नहीं पहचाना ?" आवाज में अधिकारपूर्ण उत्तेजना थी।

"ओह...प्रबोध तुम इतनी ज़ोर से क्यों बोल रहे हो ?"

"तुम्हारी आवाज़ सुनाई नहीं देती..."

"तो तुम्हारे ज़ोर से बोलने से क्या होगा...मुझे कहो न..." अचला ने कहा था।

"अच्छा सुनो" प्रबोध ने अपनी आवाज़ का चढ़ाव कायम रखते हुए कहा था, "शाम को तुम स्कूल से सीधी कनाट प्लेस चली आना – मैं भी कॉलेज से आ जाऊंगा..."

"कोई खास बात..."

"तुम्हें अपने लिए पर्दे लेने थे न... मैं कॉफ़ी हाउस के पास तुम्हारा इन्तज़ार करूंगा...ओ. के..."

...इन्तज़ार ही तो कर रही थी वह कैसा आदमी है यह प्रबोध! माना कि कॉलेज में अग्रंजी का लेक्चरार है, लेकिन इससे उसको यह अधिकार तो नहीं मिल जाता कि वह मेरे साथ असभ्यता से पेश आये। मैंने भी तो एम.ए. किया है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दी में होने के

कारण मैं लेक्चरार नहीं बन पायी। पी.जी.टी. ग्रेड में हायर सेकेण्डरी की छात्राओं को पढ़ाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता है। वेतन में भी कोई विशेष अन्तर तो नहीं, वैसे भी व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड उसकी डिग्री, मासिक आय, अथवा सरकारी पद तो नहीं होता, वह मुझे अपने से इतना हीन क्यों समझता है? मुझसे विवाह करके जैसे एहसान किया है, मुझ पर! घर में तो ठीक है, उसका हर दुर्व्यवहार सह लेती हूं – कोई देखने वाला नहीं, लेकिन टेलीफोन पर ठीक से बात करनी चाहिए, कितना चीख चीखकर बोल रहा था। प्रधानाध्यापिका अपनी ऐनक के मोटे शीशों के पीछे से विस्मय भरी आंखों से घूर रही थी और अपने लिए पर्दे ? क्या मैं ओढ़कर घूमूंगी उन्हें। घर के नंगे दरवाज़े और खिड़की से झांकती, उसकी अभद्रता को ढकने के लिए ही अनुरोध करती रही हूं और वह घर है कोई। गैरेज के ऊपर किराये की एक कोठरी। उठना बैठना, खाना, सोना, सब उसी में। स्टोव के शोर और बदबू में दम घुटता है। मकान बदलने के लिए कहो तो ऐसे देखने लगता है जैसे मैंने गाली दे दी हो। कैसे जी सकूंगी वहां ? आज आए तो साफ़ साफ़ कह दूंगी...

...और सामने खड़ा है वह- भावहीन चेहरा लटकाए। अचला के चेहरे पर अनायास स्वागतीय मुस्कराहट उभर आई जो प्रबोध के चेहरे पर कोई प्रतिक्रया नहीं जगा सकी।

"...तुम पहुंच गयी हो? चलो ।" उसने आते ही आदेश दिया।

"कॉफ़ी पीकर चलें तो...?"

"दुकानें बंद हो जायेंगी उसने कठोर स्वर में कहा और चलने लगा।

एक ठण्डी सांस लेकर वह उसके पीछे-पीछे चलने लगी। दोनों के बीच काफी दूरी आ गई। लम्बे-लम्बे कदम उठाकर उसके पास पहुंचकर उसने कहा – "हम साथ-साथ नहीं चल सकते ?"

प्रबोध ने मुड़कर उसकी ओर देखा – प्रश्नवाचक दृष्टि से – और फिर उसी रफ्तार से चलता रहा।

पर्दों की दुकान में प्रवेश करने के बाद कुछ देर वे दोनों दरवाज़े के पास खड़े रहे, एक दूसरे से कटे हुए। सेल्समैन ने ही उनकी सहायता की...

"आइए...आइए...न..."

दोनों काऊन्टर के पास पहुंच गए।

"क्या सेवा करूं?"

"कुछ पर्दे दिखाइए।"

"कैसे हों ?"

"अच्छे से..."

"और सस्ते से..." आवाज़ प्रबोध की थी।

"किसी प्राईस रेन्ज में हो" सेल्समैन ने नम्रता से पूछा।

"बीस-एक रुपये मीटर तक के..." अचला ने उत्तर दिया।

"वो आपको सामने वाले काऊंटर पर मिलेंगे"

"दोनों उधर चल पड़े"

"बीस रुपये मीटर... हूं प्रबोध ने खीझ भरे स्वर में लेकिन धीरे से कहा ताकि अचला के अलावा और कोई न सुन सके।

दस-पन्द्रह नमूने देखने के बाद अचला ने हरे रंग का प्लेन पर्दा पसंद किया।

"यह कैसे दिया है?"

"बाईस रुपये मीटर"

"इससे सस्ता नहीं होगा कोई?" प्रबोध ने पूछा।

"नहीं साहब"

"तो चलो..." उसने अचला का हाथ खींचते हुए कहा।

"लेकिन सुनिए..." अचला ने हल्का विरोध किया।

"तुम समझती कुछ नहीं..."

"मैं कह रही थी..."

"आई से लेट अस गेट गोईंग..." प्रबोध इतनी ऊंची आवाज़ में बोला कि काऊन्टर्स पर खड़े सेल्समैन तथा इने-गिने ग्राहक चौंक कर उनकी तरफ़ देखने लगे।

अचला को ऐसे लगा जैसे किसी ने बीच बज़ार में उसको थप्पड़ लगा दिया हो।

प्रबोध की ओर देखे बगैर बाहर निकल आई। वापसी में कॉफ़ी हाउस के सामने से गुजरने पर उसे महसूस हुआ कि उसकी कॉफ़ी पीने की इच्छा मर चुकी है। कुछ और भी इच्छाएं थीं– छोटी-छोटी लेकिन जीवन को अर्थ प्रदान करने वाली, जो धीरे-धीरे मरने लगी थीं...

☆☆☆

आज फिर वह कॉफ़ी-हाउस के सामने खड़ी थी – लेकिन उसे किसी का इन्तज़ार नहीं था, चाहे तो वह कॉफ़ी भी पी सकती थी। प्रबोध उसे रोकेगा नहीं। अचला ने उससे यह अधिकार छीन लीया था। सारे अधिकार छीन लिये थे। अब वह स्वतन्त्र थी।

शो-केसों में सजे हुए सपने जो उसने विवाह से पहले देखे थे और विवाह के कुछ ही दिन बाद चूर-चूर हो गये थे, आज नया रूप और आकार लेकर उसके सामने खड़े थे।

उसने फिर एक बार खाकी लिफाफे की ओर देखा और महसूस किया कि उसमें पर्दे का कपड़ा नहीं, खुशी का एक टुकड़ा तह किया हुआ रखा था। वह उसे खोल कर देखना चाहती थी, हाथ से छू कर अनुभव करना चाहती थी। वह काफी हाउस के अन्दर चली गयी।

कॉफ़ी हाउस में एक रोशन अन्धेरा था – जिसमें तैरती काफी की गन्ध ने उसे मुग्ध कर दिया।

एक कार्नर की सीट पर बैठ कर लिफ़ाफ़ा खोलते हुए उसे याद आया आज कितने आत्म-विश्वास के साथ वह पर्दों की दुकान में दाखिल हुई थी। और सीधी काउन्टर पर पहुँच गयी थी...

"...क्या सेवा करूं...?"

"कुछ पर्दे दिखाइए..."

"कैसे हों?"

"अच्छे से..."

"...और सस्ते से" कह कर आज उसे किसी ने टोका नहीं था, सेल्समैन उसे एक के पीछे एक नमूना दिखाता गया।

दस मिनट की अंदर ही अपना मनपसन्द कपड़ा लेकर वह बाहर आ गई थी। कपड़े को एकटक देखते हुए वह खो गई...

स्वस्थ वातावरण वाली एक सरकारी कोलोनी में अलाट हुआ एक छोटा सा लेकिन अपने आप में संपूर्ण क्वार्टर... कमरे की दीवारों पर हाल में ही कराया गया डिस्टेम्पर... सफेद पेण्ट वाला दरवाजा उस पर यह पर्दा कितना अच्छा लगेगा उसने एक सन्तोष की सांस ली और कपड़ा लिफ़ाफ़े में रख दिया। फिर उसने पर्स खोल के उसमें रखी कर्टेन-राड हुक्स और छल्ले देखे और काफी का प्याला उठाया।

अब वह जल्द से जल्द घर पहुंचना चाहती थी और घर पहुंचकर पर्दे लगाकर देखना चाहती थी।

ज्यूक बॉक्स पर एक नया रिकार्ड शुरू हुआ। कोई फिल्मी गीत था -- चुस्त धुन पर अचला का रोम रोम नाच रहा था। उसे महसूस हुआ कि पिछले कुछ समय से उसके अंदर जो गुत्थियों पर गुत्थियां बंध गईं थीं। वह एक-एक कर खुलती जा रही थीं। उसने अपने को बहुत हल्का और मुक्त पाया।

वेटर बिल ले आया। एक एस्प्रेसो कॉफ़ी दो रुपया। अचला ने पर्स से पांच रुपये का नोट निकाल ट्रे में रख दिया और बाकी रक़म लिये बगैर उठ खड़ी हुई। वेटर ने अटेन्शन का बड़ा पोज़ बनाकर लम्बा सलाम किया। दरवाज़े से निकलते हुए अचला ने देखा वेटर अब भी उसी मुद्रा में खड़ा था – मूर्ति की तरह और ज्यूक बाक्स पर एक और रिकार्ड शुरू हो गया था।

अभाव

खिड़की के आधे खुले हुए पट में से नीचे सड़क पर सरसरी दृष्टिं घुमाते हुए उसने सोचा कि इस नगर के लोग कितनें कायर हैं। कर्फ्यू लागू होने में आभी दस मिनट बाकी होंगे फिर भी लोग सायरन की आवाज़ सुनते ही चूहों की तरह भाग कर बिलों में छिप गए हैं। अचानक ही उसे गोली की आवाज़ सुनाई दी। चौंक कर वह खिड़की बंद कर समीप रखी चारपाई पर बौठ गया।

पिछले तीन दिनों से वह अपने कमरे से बाहर नहीं निकल सका। कर्फ्यू तीनों दिन तक निरंतर चालू रहा हो, ऐसा भी नहीं था। बीच-बीच में घण्टे, दो-घण्टों की छूट मिलती रही थी। किन्तु वह उसका लाभ नहीं उठा पाया था।

शहर के सदर बाज़ार में दफ्तर के ऊपर टिन की बरसाती पर खाट बिछाए वह तीन दिनों से करवटे बदलते- बदलते ऊब चुका था। वैसे सारा दिन चहल पहल मची रहती और वह अत्यंत व्यस्त रहा करता था। मैनेजरके लिए होटल से दोपहर का खाना लाना, लेखाधिकारी के लिए तंबाकू का पान और सिगरटे ले आना, बाबू लोगों के लिए कूलर में से ठंडा पानी भर भर के देना, फाइलों व कागजातों को यहाँ से वहाँ लाना- ले जाना, बैंक जाना, पोस्ट आफिस जाना, सैकड़ों प्रकार के काम उसे करने पड़ते थे। किन्तु कर्फ्यु ने तो उसे एकदम बेकार ही बना दिया था- निष्क्रिय सा कर दिया। न जाने कब खतम होंगे ये दंगे फसाद। उसने एक लंबी उबासी खाई। बीड़ी पीने की तलब हुई लेकिन बीड़ियों का स्टाक कभी का खतम हो चुका था। कुछ सोच कर वह चारपाई से उठा और जली हुई

बीड़ियों में से एकाध टुकड़ा ढूंढने लगा। सोचा फिलहाल तो इन्हीं से काम चल सकता है। कमरे के कोने में रखे हुए टीन के डिब्बे पर माचिस पड़ी थी। उसमें दियासलाइयों की संख्या गिनी। कम संख्या देखकर वह एकदम हताश सा हो गया। कहीं ऐसा न हो कि स्टोव जलाने के लिए भी उसके पास दियासलाई न रहे।

कुछेक पलों की कशमकश के बाद उसने बीड़ी के उस टुकड़े को सुलगा ही लिया। एक दो कश लगाने के बाद एक कोने में उसे फेंक दिया। कुछ देर के लिए उसकी अुंगलियों को कुछ गर्मी सी महसूस हुई। किन्तु फिर शीघ्र ही उस फेंकी हुई बीड़ी को उठा कर दुबारा कश लगाई और फिर दूसरा टुकड़ा उठा कर जली हुई बीड़ी से उसे भी जलाया। इस प्रकार एक दियासलाई बचा लेने के अपने तरीके पर खुद को सराहने भी लगा। इस चतुराई के एहसास का लुत्फ लेता हुआ वह इस प्रकार की अपनी पुरानी खूबियों को याद करने लगा। चाय की पत्ती का एक बार उपयोग करने के बाद उसका दुबारा उपयोग कर लिया करता था और आटे को छानने के बजाय वह हमेशा ही बिना छाने रोटियां सेंक लिया करता था।

एक दौड़ते हुए घंटनाद ने उसकी विचारधारा में खलल डाला। वह फिर खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया। खिड़की को थोड़ा सा खोलक डरते- डरते उसने नीचे की ओर झांका।

फायरब्रिगेड की लारी के पीछे-पीछे सशस्त्र पुलिस का ट्रक निकल जाने के बाद सड़क फिर वीरान हो गई। खिड़की के पट को थोड़ा स अधिक खोलकर उसने सड़क के दोनों ओर का जायज़ा लिया। दुकानों के शटर बंद थे। चारों ओर मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था। रास्ते प कोई भी प्राणी नजर नहीं आ रहा था।

अचानक ही उसकी दृष्टि सड़क के उस पार फुटपाथ पर पड़ी। इंसान आकार की सी कोई चीज उसे नजर आई। ध्यान से उसने उसे ग़ौर देखा। शायद कोई बालक था- विद्यार्थी सा दिखाई दे रहा था। खाकी निकर और नीली कमीज पहन रखी थी उसने। विद्यार्थी की ही तो पोशा थी। फर्श पर औंधा सोया पड़ा है। उसका दायां हाथ समीप पड़ी एक थैल

पर था। झोली के खुले हुए मुंह से कोई सफेद सी चीज़ बाहर आकर इधर उधर फैल गई थी। आटा सा दिखाई दे रहा था। लेकिन वह यों ही क्यों पड़ा है? हिलता डुलता क्यों नहीं? कहीं...

उसके दिल की धड़कन बढ़ गई। वह सिहर उठा। खिड़की बंद कर वह खाट पर गिर पड़ा।

शहर में ये दंगे कोई पहली बार नहीं हुए। लाठी, गोलियों से लोगों को तड़पते और फिर कराहते हुए मरते भी देखा था। लाशें देखने का अनुभव उसका नया नहीं था। किंतु वह किसी भी लाश को देख कर कांप उठाता था और उसके बाद उसका सारा शरीर पसीने से नहा उठता। बीड़ी का नया टुकड़ा जलाकर एक लंबा कश खींचते हुए वह देखे हुए दृश्य को भुलाने की कोशिश करता है। किंतु उसे लगता है जैसे वह नन्ही सी लाश धीमे-धीमे सरकते हुए बिना किसी प्रकार की आवाज किए चुपचाप दो सीढ़ियां चढ़कर उसके दिमाग़ पर आ खड़ी हुई है। भरसक प्रयास करने के बावजूद वह अपने उन विचारों को भुला नहीं पाया। वह कुछ डर गया और अपने आपको अकेला सा महसूस करने लगा। उसे अपने कमरे की चारों दिवारें खिसक कर अपनी और आती दिखाई देने लगीं। उसका दम जैसे घुटने लगा। वह एकदम उठ खड़ा हुआ। खिड़की खोल डाली। न चाहते हुए भी उसकी नज़र वहीं जाकर अटक गई। इसकी आंखों के सामने वही का वही नज़ारा आया- वही शून्य सड़क, ख़ाली फुटपाथ पर ख़ाकी निकर और नीली कमीज़ वाली लाश और उसके पास ही पड़ी आटे की झोली।

किन्तु दुबारा देखने से उसे वह दृश्य पहले जितना भयानक न लगा। एक ठंडी सांस लेकर वह खाट पर आ बैठा।

उसे चाय पीने की तलब लगी। कोने में जाकर उसने स्टोव जलाया। वैसे स्टोव की आवाज से उसे हमेशा चिढ़ ही थी किंतु आज यही आवाज़ उसे अच्छी लग रही थी। तनहाई में वह जानदार आवाज़ उसे आश्वासन सी दे रही थी।

केतली में चाय की पत्ती डालकर वह रंग बदलने का इंतजार करने

लगा। उसे भूख सी भी लगी थी। सोचा, दो नमकीन रोटियां भी सेंक ली जाएं। चाय के साथ नमकीन रोटियां खा लूंगा। फिर रात को जरुरत नहीं रहेगी। किंतु अभी दो घण्टे पहेले ही तो चाय के साथ रोटी खाई थी उसने। कमाल है। आजकल न जाने इतनी भूख क्यों लगती है। अगर इसी रफ्तार से खाता रहा तो हफ्ते का राशन चार ही दिनों में खलास हो जाएगा। मगर उसमें मेरा तो कोई कसूर है नहीं। भूख लगेगी तो खाना तो पड़ेगा ही।

उसने आटे का डिब्बा खोला। उस डिब्बे में उसे अपने पेट का प्रतिबिंब सा नज़र आया। केतली का पानी भी उबलने लगा लेकिन उसके रंग में कोई परिवर्तन नहीं आया। उसे झुंझलाहट अनुभव होने लगी। कुछ सोचकर वह फिर खिड़की के पास आता है।

बाहर अंधकार छा चुका था। ध्यान से देखने पर उसे लगा कि लाश अभी भी वहीं की वहीं पड़ी है... ज्यों की त्यों, पूर्ववत। लाश के नज़दीक ही बिखरे हुए सफेद आटे वाली थैली भी वैसी की वैसी पड़ी है।

उसकी निगाहें लाश से हट कर झोली पर जाकर स्थिर हो जाती है। और वह अत्यंत व्याकुलता से पुर्ण अंधकार होने की प्रतीक्षा करने लगता है।।

ठहरा हुआ समय

एक...पांच...पन्द्रह...पच्चीस...तीस....

रेल्वे ओवर-ब्रिज पर, दाएं-बाएं, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, चढ़ते-उतरते लोगों की अन्तहीन भीड़ में, बन्द छाते के सहारे, गिन-गिन कर सीढ़ियां चढ़ते उसकी सांस फूलने लगी है। तीसवीं सीढ़ी पर रुक कर, ऐल्युमीनियम की चौड़ी रेलिंग पर कुहनी टिका कर, वह अपनी बिखरती हुई सांस को संभालने की कोशिश करता है।

चारों ओर हलचल है। पशुओं से भी अधिक बोझ लादे, हिल-डुल कर चलते मैली लाल कमीजों वाले कुली, चुस्त सफेद वर्दियां पहने फुर्ती से इधर-उधर आते-जाते रेल्वे कर्मचारी, विभिन्न प्रकार के वस्त्र,स्तर और आयु वाले यात्री, चलते-फिरते विक्रेताओं की आवाज़ें, शंटिंग करते इंजनों का शोर, गर्मी, ट्युब-लाईट्स के चारों ओर मंडराता धुंआ, और लाउड-स्पीकर पर लगातार घोषणाएं...

ज़रा सुनिए.... यात्रियों से अनुरोध... प्लेटफार्म नम्बर.... की बजाय... चले जाएं....

कुछ भी ठीक सुनाई नहीं देता ।

.... ज़रा ध्यान से सुनिए..... देहरादून से.........

देहरादून शब्द सुनते ही वह आस-पास के शोर से एकदम कट जाता है। उसके कानों की श्रवण शक्ति बढ़ जाती है।

......देहरादून से बम्बई सेन्ट्रल जाने वाली बीस अप देहरादून एक्सप्रेस

तीस मिनट लेट चल रही है। आठ पचपन की बजाय अब वह नौ पच्चीस पर दिल्ली पहुंचेगी......

घोषणा सुनकर वह वहीं जम जाता है। समय जानने के लिए उसकी आंखें इधर-उधर घूमती है। नीचे प्लेटफार्म पर टंगी घड़ी में आठ पच्चीस हुए हैं। ग़लत बिल्कुल ग़लत। सवा आठ पर तो मैं स्टेशन पर पहुंचा था। अभी दस ही मिनट हुए होंगे, मुझे यहाँ आए ? घड़ी ठीक नहीं लगती। किसी से सही समय का पता करना चाहिए ।

"टाईम क्या है....?"

"आठ पच्चीस।"

बकवास ! इसकी घड़ी भी ठीक नहीं है। लगता है - सब ने साज़िश कर रखी है झूठ बोलने की, मुझे पप्पू से अधिक से अधिक समय तक दूर रखने की। उसे लगता है - पप्पू से मिलने की प्रतीक्षा में बीते तीन वर्षों में तीस मिनट नहीं तीस घंटे बढ़ा दिए गए हैं।

वह निर्णय नहीं कर पाता कि पुल पार कर उसे अभी से नियुक्त प्लेटफार्म पर पहुंच जाना चाहिए या....

कुछ सोचकर वह फिर... सीढ़ियां चढ़ने लगता है। इकतीस...पैंतीस... सैंतीस... उन्तालिस... और वह ऊपर पहुंच गया है।

रेलिंग पर हाथ रख कर कुछ क़दम चलने के बाद वह फिर रुक जाता है। नीचे एक खाली इंजन गुजर जाता है और रेंलिग के साथ वह भी हिल जाता है।

सावधान

२५००० वोल्ट

चेतावनी पढ़कर वह रेलिंग से हाथ खींच लेता है।

गाड़ी के लेट होने का क्या कारण हो सकता है ? कोई दुर्घटना ? बाढ़? कहीं पटरी तो नहीं बह गयी ? कोई पुल तो नहीं टूट गया । नहीं,

नहीं । कोई ऐसी बात होती तो गाड़ी के आधा घंटा लेट आने की घोषणा ही कैसे करते ? इसका मतलब गाड़ी सही सलामत है, सिर्फ लेट चल रही है । लेकिन कारण क्या है ? रेलवे अधिकारियों को ऐसी घोषणा के साथ क्या यह नहीं बाताना चाहिए कि गाड़ी के लेट होने का कारण क्या है ?

पता नहीं पप्पू को कैसा लग रहा होगा ? पप्पू के सम्बन्ध में सोचते ही उसके सामने डार्क-ग्रे रंग की निकर और सफेद शर्ट पहने एक बारह वर्षीय गोरे, स्वस्थ बालक का तीन वर्ष पूराना चित्र उभर आता है - जब उसने उसे अंतिम बार देखा था।

उसे विश्वास ही नहीं होता कि पप्पू आज दिल्ली आ रहा है - उसके पास । इस अविश्वास के लिए उसे उचित कारण है। ग्रीष्मकालीन तथा क्रिसमस् की छुट्टियों में कई बार उसे बताए बग़ैर वह सीधा बम्बई चला जाता... माँ के पास । उसकी ओर से बार-बार लिखने, याचना करने, याचना दोहराने के बावजूद पप्पू ने कभी उसे अपने दिल्ली होकर जाने की सूचना तक नहीं दी। क्य वह सचमुच मुझसे मिलना नहीं चाहता ? या उसकी मम्मी... ?

पैंट की जेब से वह कुछ काग़ज़ निकालता है । हल्के गुलाबी रंग का एक काग़ज़ अलग कर शेष काग़ज़ वापस जेब में डालते हुए मसूरी से आयी वह टेलीग्राम पढ़ने लगता है, जिसे पिछले बीस घण्टों में कम से कम बीस बार पढ़ चुका है - 'रविवार रात को देहरादून एक्सप्रेस से दिल्ली पहुंच रहा हूं - दो दिन ठहरूंगा - प्रकाश।'

प्रकाश अर्थात् पप्पू । तो पप्पू अब प्रकाश बन गया है। प्रकाश तो वह जन्म से ही रहा है - प्यार से हम उसे पप्पू बुलाते रहे हैं। लेकिन अब मैं भी उसे प्रकाश ही पुकारूंगा । हो सकता है पप्पू कहलाना उसे अच्छा नहीं लगे । वह नाराज़ हो जाए । उसे नाराज़ नहीं होने देना है - किसी भी कीमत पर । अब वह बड़ा भी तो हो गया है । पिछले महीने उसका सोलहवां जन्म दिन था। चाहते हुए भी उसे कोई उपहार नहीं भेज सका।

शुभ कामनाओं का तार तक नहीं भेज सका।

कितना बड़ा हो गया होगा ? कितना लम्बा ? चेहरा भी बदल गया होगा, आवाज़ भी। पहचान पाऊंगा उसे ? कमाल है, अपने पप्पू को नहीं पहचान पाऊंगा । अपने बेटे को ।

लेकिन, अब वह अपना कहां रहा । अब तो केवल माँ का ही रह गया है । मुझे अगर अपना समझता तो क्या इसी प्रकार हर बार दिल्ली को लांघ कर सीधा बम्बई चला जाता - मुझसे मिले बग़ैर ? पिछली विन्टर वैकेशन में ही जो उसने किया, करना चाहिए था उसे ? मुझे लिखा - यह वैकेशन मैं आपके साथ बिताऊंगा डैडी - दिल्ली में - अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी भी देखूंगा । और पहुंच गया मम्मी के पास - बम्बई । कितनी प्रतीक्षा की थी मैंने ? कितनी आशंकाएं उठी थीं मन में । कितना नाराज़ हुआ था उस पर - उसकी अनुपस्थिति में ।

लेकिन उसका भी क्या दोष ? मसूरी लौट कर क्षमा तो मांगी थी मुझसे और यह भी बताया था कि विन्टर यूनीफार्म बनवाने के लिए उसे मम्मी के ही पास जाना पड़ा था - विवश । लेकिन वह विवशता उसकी थी या मेरी ? यह सोचता ही रह जाता है ।

पुल के नीचे बहुत शोर है। उसका ध्यान नीचे खड़ी एक गाडी पर जाता है । डिब्बों की छत पर, रबर की मोटी नलियों से पानी भरने वाले भिश्ती दौड़ने लगे हैं। दूर अंधेरे में टंगा एक लाल धब्बा, हरा हो गया है। इंजन की सीटी, गार्ड की सीटी, भागम-भाग, टा टा... गुड बाई .... खुदा हाफ़िज... और फिर छक् छू... छक् छू... छक् छू... कब क्यों... कब क्यों...कब क्यों... कब ।

शायद पाँच वर्ष पहले। जिस समाचार पत्र में वह विशेष संवाददाता था उसका दिल्ली संस्करण बन्द हो गया और वह फ्रीलांसर रह गया। व्यावसायिक पद तथा आय के साथ उसका सामाजिक स्तर भी गिर गया... अचानक। उन्हीं दिनों वह बम्बई चली गयी... बदली करवा कर - प्रकाश

और दीप्ति को साथ लेकर।

गाड़ी बहुत दूर निकल गयी। उसके अंतिम डिब्बे पर अंकित लाल धब्बा छोटा और छोटा होकर अंधेरे में विलीन हो गया - पुराने नाते की तरह।

वह ओवर-ब्रिज पर लगी घड़ी में टाइम देखता है। पूरे नौ। पच्चीस मिनट ही तो बाकी रहे। अब प्लेटफार्म पर पहुंचना चाहिए। हो सकता है गाड़ी कुछ लेट निकाल कर समय से पहले ही आ जाए।

प्लेटफार्म पर इतनी भीड़ नहीं है। पान-बीड़ी-सिगरेट और गरम चाय बेचने वालों की आवाज़ें ठण्डी पड़ गयी हैं। एक पुस्तक भण्डार के पास खड़ा होकर वह काउन्टर पर सजी रंगीन पुस्तक-पत्रिकाओं को देखने लगता है - फिल्म जगत, सेक्स, जासूसी, और एक कोने में अखबारों की सफेद चादर पर लेटी काली राजनीति। वह आगे बढ़ जाता है।

पास ही एक तोल-मशीन है। उसके भीतर लगा एक हरा और एक लाल बल्ब बारी-बारी जलकर बुझकर अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। एक के बुझते ही दूसरा जल उठता है और उसके बुझते ही पहला जल उठता है। क्या दोनों एक साथ नहीं जल सकते ? सोचते हुए वह मशीन की तरह मशीन पर चढ़ जाता है। लाल सफेद चक्कर का चक्कर- दस पैसे का सिक्का - और ये रही टिकट - वजन बावन दशमलव पांच किलोग्राम - पहले से केवल आठ किलोग्राम कम। टिकट पर वजन के साथ कुछ और भी लिखा है - "आप बड़े हंसमुख हैं - मित्रों तथा संबंधियों को बहुत प्रिय लगते हैं।" पढ़ते-पढ़ते उसके चेहरे पर एक दबी-सी मुस्कान उभर आती है और वह सोचता है - कोई हँसमुख न भी हो तो यह पढ़कर अवश्य हो जाएगा - थोड़ी देर के लिए ही सही।

थोड़ी देर ?

गाड़ी आने में भी अब थोड़ी ही देर रह गयी है। प्रक़ाश कितना उत्सुक होगा मुझसे मिलने के लिए। तीन साल बाद मिल रहा है।

अब उसने अपना सामान समेट लिया होगा और दरवाजे के पास खड़ा हो गया होगा । मैं ऐसा करता हूं कि प्लेटफार्म के बीच में ही खड़ा रहता हूं। पहले डिब्बों में अगर दिखायी नहीं दिया तो भाग कर पीछे वालों में देख लूंगा।

''ज़रा सुनिए...''लाउडस्पीकर फिर बोलने लगा है।

''देहरादून से बम्बई सेन्ट्रल जाने वाली बीस अप देहरादून एक्सप्रेस अब थोड़ी ही देर में प्लेटफार्म नम्बर आठ पर पहुँचने वाली है।

प्लेटफार्म नम्बर की पुष्टि करने के लिए वह ऊपर दृष्टि दौड़ाता है। थोड़ी ही दूर ऊपर टंगी तख्ती पर आठ का अंक देखकर उसे संतुष्टि होती है। गाड़ी यहीं आएगी।

अच्छा, उससे मिलूंगा कैसे ? वह अवश्य मेरे पाँव छुएगा। मैं उठाकर उसे गले लगा लूंगा। लेकिन हो सकता है वह पाँव न भी छूए। क्या पता उसकी कान्वेन्ट शिक्षा ने उसमें कैसे संस्कार भरे हों। पता नहीं उसकी मम्मी ने मेरे संबंध में उस पर क्या प्रभाव डाला हो ? हो सकता- दूर से ही कह दे - हैलो डैड - लेकिन मुझे क्या कहना चाहिए ? अगर उसने कहा तो मुझे भी कहना पड़ेगा - हैलो प्रकाश । नहीं नहीं-यह भी कोई तरीका हुआ मिलने का - एकदम औपचारिक-आत्मीयताहीन। मैं...मैं कहूंगा-कोई इस तरह भुला देता है अपने डैडी को...तीन-तीन साल...। हो सकता है यह उसे अच्छा न लगे - मेरी भावुकता । कुछ भी हो - मैं उसे गले अवश्य लगाऊंगा। बोलूंगा कुछ भी नहीं। बोलने से मेरी आवाज भर आए तो आँखे...?

और उसकी आँखे सचमुच छलक उठी हैं और वह सिसकियां भरकर रोने लगा है - मैले रूमाल से चेहरा ढंक कर।

प्लेटफार्म सजीव हो रहा है। दूर से अंधेरे को चीरती हुई एक तेज़ रोशनी समीप और समीप आती जा रही है। मुसाफिर खड़े हो गए हैं। कुलियों ने सामान उठा लिया है। खोमचे वाले सजग हो गए हैं । वह फुर्ती

से आंखें पोंछ कर गला साफ कर लेता है- कहीं पप्पू ने देख लिया तो ?

गाड़ी को प्लेटफार्म पर आए आधा घंटा हो गया है और उस आधे घंटे में हर डिब्बे की हर खिड़की, हर दरवाज़े से प्रकाश-प्रकाश की आवाज़ टकरा चुकी है - कई बार। भटक-भटक कर वह आवाज़ अब लाउडस्पीकर तक पहुँच गयी है।

'ज़रा ध्यान दीजिए...देहारदून एक्सप्रेस से आने वाले मसूरी के मास्टर प्रकाश जहाँ-कहीं भी हो इन्क्वायरी आफिस में आ जाएं। उसके डैडी उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वह इन्क्वायरी आफिस में, एक स्टूल पर बैठा है - छाते के हैंडल पर रखे दोनों हाथों पर ठोड़ी टिकाए - अपलक बाहर देखता हुआ। उसे लगता है समय ठहर गया है।

ग्रामीफोन रिकार्ड पर सुई अटक जाने से, जैसे कोई धुन एक घेरे में फंस कर घुमती रह जाती है, उसी प्रकार उसके कानों में बार-बार एक ही आवाज़ गूंज रही है ...

उसके डैडी उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं...

उसके डैडी उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं...

उसके डैडी उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं...

उस स्नोफाल में

कॉफ़ी-हाउस का दरवाज़ा खुला तो ठंडी हवा का एक तेज़ झोंका अंदर घुस आया। निर्मल ने अपने ओवर-कोट का कॉलर गर्दन तक खींच लिया और कॉफ़ी का प्याला एक ही सांस में पीकर सिग्रेट सुलगाई।

सुधा अब तक चली गई होगी - उसने सोचा और घड़ी में टाईम देखा- साढ़े आठ उसने कहा था वह शाम को चली जाएगी। रेडियो-स्टेशन से लौटते हुए माल रोड से कुली को लेती हुई आएगी। काली बाड़ी में लम्बी अवधि के लिए उसने एक कमरा तय कर लिया था।

इतने दिन उसके साथ रहकर उसने उसको जो कष्ट पहुँचाया था उसके लिए उसने माफ़ी मांगी थी। निर्मल ने कोई उत्तर नहीं दिया था। केवल सोचता रह गया था कि कष्ट सुधा ने मुझे दिया था या मैंने सुधा को।

दिसम्बर समाप्त होने को था। दो दिन पहले क्रिसमस की रात को मौसम की पहली बर्फ पड़ी थी। निर्मल के लिए यह दूसरा स्नोफाल था। पिछले स्नोफाल में ही वह यहां आया था। स्थानीय स्नातक कॉलेज में प्राचीन इतिहास का लेक्चरार बन कर। उसके आते ही विन्टर वैकेशन शुरु हो गई थी। लेकिन छुट्टियों में वापस दिल्ली जाने की बजाय उसने यहीं रहना पसन्द किया। स्नोफाल उसे बहुत अच्छा लगा था।

स्नोफाल ही क्या शिमला के सभी मौसम उसे अच्छे लगने लगे थे। शरद जब वातावरण उदासी का आवरण ओढ़ लेता, पेड़ों की टहनियां

सूनी हो जाती, पीले पत्ते बेनाम पगडण्डियों पर भटक कर गुमनाम मौत की गोद में सो जाते। सर्दी-जब शाम होते ही चाय का थर्मस और किताब लेकर वह बुख़ारी के पास आराम-कुर्सी पर बैठ जाता और आधी-आधी रात तक पढ़ने में मस्त रहता। मानसून-जब बारिश के बाद चारों तरफ कुहासा छा जाता, आस-पास कुछ भी नज़र नहीं आता, बालकनी की गीली ठण्डी रेलिंग पर दोनों हाथ रख कर घने कुहासे को ताकते हुए उसे लगता वह जहाज की डेक पर खड़ा है और एक अनिश्चित यात्रा पर जा रहा है।

ऐसे ही एक दिन सुधा आई थी। निर्मल बालकनी में खड़ा था - अपने से बाहर कम और अंदर अधिक देखने की अवस्था में। न जाने कब वह उसके पास आकर खड़ी हो गई।

काफी देर बाद निर्मल नें चौंक कर जब उसकी ओर देखा तो उसने शोल्डर-बैग की ज़िप खोलकर चुप चाप एक लिफाफा उसकी ओर बढ़ा दिया। चिट्ठी बड़ी भाभी की थी जिसको वह छोटी मां कहता था। सुधा, उसकी भतीजी, आकाशवाणी शिमला में स्टाफ-आर्टिस्ट नियुक्त होकर आई थी। छोटी मां ने उसको मकान दिलवाने और उपयुक्त प्रबंध न होने तक अपना अतिथि समझ कर उस का पूरा पूरा खयाल रखने का आदेश दिया था।

चिट्ठी पढ़ कर उसने एक बार उसकी ओर देखा। कुहासे में खड़ी एक सांवली परी। लम्बा कद, सुगठित शरीर, चेहरे पर एक असाधारण आभा, बैंगनी रंग के पतले बार्डर वाली सफेद सूती साड़ी...

निर्मल को चुप देखकर सुधा ने कहा, "आपको असुविधा हो तो मैं किसी होटल..."

"मैंने तो कुछ भी नहीं कहा..."

"आप ख़ामोश जो हो गए ..."

"और आपने मेरी ख़ामोशी पर अर्थ भी चिपका दिया... अपनी मर्ज़ी

से...''

''आई ऐम सारी... लेकिन मैं साफ़ बात करने की आदी हूं। इसलिए फिर कहती हूँ - मेरे दो चार दिन यहां रहने से आपको ज़रा भी कष्ट हो तो...''

निर्मल कोई उत्तर न देकर बालकनी की दांई ओर सीढ़ी के पास पड़ा सूट केस और होल्डाल उठाकर बाईं ओर वाले कमरे में पहुँच गया।

सुधा भी उसके पीछे पीछे वहां पहुंची।

''कोई दूसरा बंदोबस्त होने तक आप यहाँ रह सकती हैं। ये कमरा... ये अटैच्ड बाथरूम और वो किचनेट है ! मैं इस पोरशन का इस्तैमाल नहीं करता। यह अतिथियों के ही काम आता है। मैं साथ वाले कमरे में गुज़ारा कर लेता हूँ !

सुधा को कमरे में पहुंचा कर वह फिर बालकनी में बांस की कुर्सी पर बैठ गया। कुहासा घटने लगा था। कॉटेज का अहाता बगीचा, गेट, सामने वाली पहाड़ी और ऊपर माल-रोड को जाता हुआ टेड़ा मेड़ा रास्ता अब साफ़ दिखने लगा था। अपर-कैथू की उस होटल का ऊपरी हिस्सा भी नज़र आ रहा था जहाँ वह खाना खाता था - दिन में अक्सर एक बार । उस रात भी वह खाना वहीं से ले आया - दोनों ने साथ खाया था।

अगले दिन दोपहर को जब वह कालेज से लौटा तो सुधा घर पर नहीं थी। सीढ़ियों में एक कुली बैठा था - एक टोकरी और एक थैला लेकर ।

''किस के लिए है?''

''निर्मल साब के लिए।''

''किसने भेजा है ?''

''मेम साब ने।''

''अच्छा'' कुछ सोचते हुए उसने कहा, ''ऊपर ले आओ।''

सामान उस के कमरे में रखवाकर वह अपने कमरे में पहुंचा तो देखता ही रह गया। पलंग पर नई चादर बिछी थी - ठीक वैसी जैसी उसने अभी

अभी साथ वाले कमरे में देखी थी - सुधा के पलंग पर। कोने में स्टडी टेबल पर रखा स्टोव चाय का बर्तन, चीनी और पत्ती के डिब्बे, टूटे हैण्डलों वाले दो मग्गे गायब थे। सोफा पर फैली पुस्तकें सलीके से स्टडी टेबल पर रखी गई थीं। कुर्सी के हैंण्डल पर पड़े गर्म कपड़े वार्ड-रोब में पहुंच गए थे। कारपेट साफ-सुथरा लग रहा था। पीतल की ऐश-ट्रे चमक रही थी।

''क्या मैं अदर आ सकती हूं।''

और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह अंदर पहुंच गई।

''आप मुझ पर नाराज़ तो नहीं हैं?''

''क्यों?''

''मैंने आपकी सारी चीज़ें इधर से उधर पहुंचा दी हैं...।''

''ठीक ही तो किया है, हर चीज़ को सही जगह पर पहुंचा दिया है। आई शुड बी ग्रेटफुल टु यू...''

नहीं नहीं... नहीं... ऐसे काम नहीं चलेगा। आईंदा आप भी ऐसा ही करें । हर चीज़, अपनी जगह पर। मैं यहाँ हमेशा थोड़े ही रहूंगी...

और आज वह जा रही है। अब तक चली भी गई होगी - निर्मल ने सोचा और एक और सिग्रेट सुलगाई।

बाहर बर्फ गिर रही थी - लगातार और बे-आवाज़ । उसने पीछे की खिड़की से पर्दा हटाकर एक टक बाहर देखा। टीन की छतों पर देवदार की टहनियों पर, चर्च के क्रास पर घुनी हुई रूई जैसी नर्म सफेद बर्फ़ की तह जमी हुई थी। बन्द खिड़की के शीशों के बाहरी निचले हिस्से पर भी बर्फ जमा हो गई थी।

ख़िड़की के पास ही बुख़ारी में आग की आवाज़ सुन कर उसने खिड़की का पर्दा गिरा कर बुखारी की ओर देखा। अटेन्डंट ने उसमें अभी अभी और लकड़ियां डाली थी।

उसने एक और कॉफ़ी का आर्डर दिया और आँखें बुख़ारी में गाड़ दीं। गुलाबी रोशनी और एक विशिष्ट गंध पर सवार होकर वह फिर अपने

कमरे में पहुंच गया।

वही आराम कुर्सी, बुख़ारी और गुलाबी शोलों का नृत्य। सुधा कुलू-मनाली में लोक गीतों की रिकार्डिंग करने के बाद चार दिन बाहर रह कर उसी शाम वापस आई थी।

निर्मल का चेहरा देखते ही उसने पूछा था, "तबीयत ठीक है न आपकी ?"

"हाँ बिल्कुल..."

सुधा को विश्वास नहीं हुआ था। उसने उसकी पेशानी पर हाथ रख कर देखा था - "अरे आप को तो बुख़ार है।"

"मामूली सा।"

"कब से है?"

"कल से।"

सुधा निर्मल के कॉटेज में अब तक अपना व्यक्तित्व स्थापित कर चुकी थी। और इस आधार पर नाराज़ भी हो लेती थी।

"...चार दिन बाहर जाती हूँ तो आप अपने को बीमार कर देते हैं।"

उसने आत्मीयता से डांटा था -

"आपने ज़रूर लापरवाही की होगी, ठण्डे पानी से नहाया होगा, स्वेटर नहीं पहना होगा..."

"अरे हां... स्वेटर कहां रख गई थी तुम? मुझे तो मिला ही नहीं..."

"लगता है अब मुझे यहां से जाना होगा।"

"क्यों?"

"आप मुझ पर बहुत निर्भर रहने लगे हैं अपना स्वेटर तक नहीं ढूंढ सकते...।"

"आईदा खुद ढूंढ लूंगा।" निर्मल ने कहा था।

और अगली सुबह जल्दी उठ कर स्टोव पर स्वयं ही पानी गर्म किया

था, वार्ड-रोब से कपड़े निकाले थे - फुल सूट मैचिंग टाई, मोजे, रूमाल- सब कुछ खुद ही ढूंढा था और चुप-चाप नाश्ता लेकर कालेज चला गया था। सुधा उसकी ओर देखती रह गई थी। रात के खाने पर भी वह चुप ही रहा था।

तीन दिन तक यही क्रम चलता रहा और चौथे दिन सुधा ने कमरा मिल जाने की बात बताई थी।

अब तक वह अपने कमरे में पहुंच गई होगी। जाना तो एक दिन उसको था ही। लेकिन जिन परिस्थितियों में वह जा रही थी उनके लिए ज़िम्मेदार मैं ही हूँ - निर्मल ने सोचा और काउंटर पर बिल देकर काफी-हाउस से बाहर निकल आया।

बर्फ़ अभी तक गिर रही थी। माल-रोड ख़ाली ख़ाली लग रहा था। सम्भल सम्भल कर पांव रखते हुए वह अपने कॉटेज की ओर चलने लगा।

नार्द्रन कमाण्ड हेड क्वाटर्स, से गुज़रते हुए उसने देखा नीचे पार्क की गई कुछ ट्रकें, एक सफ़ेद वैन, दो जीप बर्फ़ से ढक गई थीं। स्टेट बैंक आफ इण्डिया के बाद ए. जी. आफिस के रोड-जंकशन पर पहुंच कर वह दाईं ओर मुड़ गया - कार्ट-रोड को जाने वाली छोटी-सी सड़क पूरी सफ़ेद हो रही थी। रुमाल निकाल कर उसने अपना चेहरा साफ़ किया और सड़क के दाएं किनारे नीचे उतरने लगा। पांव पड़ते ही बर्फ नीचे धंस जाती थी। बर्फ के छोटे-छोटे ज़र्रे जूतों के अंदर पहुंचकर पिघल गए थे। चलने से किच किच की एक अजीब आवाज़ होने लगी।

कार्ट-रोड के बाद अपर-कइथू से गुज़रते हुए उसकी नज़र नीचे अपने कॉटेज पर पड़ गई। ऊपर के पोर्शन में रोशनी देख कर वह वहीं रूक गया - उसे विश्वास ही नहीं हुआ - तो क्या सुधा गई नहीं ! हो सकता है देर से गई हो और लाईट जलती हुई छोड़ गई हो...

सीढ़ी चढ़कर देखा दरवाज़ा खुला हुआ था। वह उसके कमरे में बैठी थी - बुखारी के पास। निर्मल के कदमों की आहट सुनते ही वह उठ खड़ी

हुई -

"आप को मालूम था कि मुझे आज जाना है फिर भी देर कर दी।"

"........."

"खाना ठण्डा हो रहा है और आप आधी रात तक स्नोफाल में सैर करते फिर रहे हैं..."

"........."

"फिर बुखार हो जाए तो ?"

और वह नैपकिन लेकर निर्मल के बालों से कोट के शोल्डर से बर्फ़ हटाने लगी -

"बताइये फिर कुछ हो गया तो... कौन देखभाल करेगा आपकी..?"

"तुम जो हो..."

"मेरी ज़रूरत ही क्या रह गई है । पानी खुद गरम कर सकते हो, वार्ड-रोब से कपड़े निकाल सकते हो...

निर्मल चुप।

"इतना भी अधिकार नहीं कि आप के लिए ये छोटे-छोटे काम कर सकूँ ? बताइये?"

निर्मल के पास इस का जवाब है लेकिन वह देता नहीं । सिर्फ शान्त भाव से उसकी ओर देख कर उसे खींचकर आलिंगन में भर लेता है और ललाट पर एक चुम्बन चिपका देता है।

एक थकी हुई मुस्कान

तार का नीला काग़ज़ देखकर मन में असंभावना के विरुद्ध अभी तक बंधी हुई संभावनाएं चूर चूर होकर बिखर गईं। लगा, संभवत :

आशंका सही निकली।

छाया अब नहीं रही। तार में यही संदेश था। एक बड़ी घटना की संक्षिप्त सूचना।

कुछ भी अप्रत्याशित या असंभव नहीं हुआ था। जो हुआ था उसकी कल्पना मैंने तब ही कर ली थी जब उस से अंतिम बार मिलने अचानक बम्बई पहुंच गया था।

वह शायद जून का प्रथम सप्ताह था और मानसूनी बारिश शुरु हो चली थी।

ट्रेन में रात भर जागते, एक अप्रत्यक्ष, अनिश्चित अपराध-भाव से खिड़की से काले पेड़ों के सरकते हुए साए देखते देखते पता ही नहीं चला पांच सौ किलोमीटर यात्रा कैसे तय हो गई। फिर टैक्सी में बैठकर बांद्रा स्टेशन से कार्टर रोड पहुंचा था। आठ-मंज़िली इमारत के अंतिम फ़्लोर पर उनके फ़्लैट के सामने खड़े होने के बावजूद विश्वास ही नहीं हो रहा था कि छाया से साक्षात्कार हो सकेगा और उसको उसी रूप में देख पाऊंगा जिसमें लग भग पांच साल पहले दिल्ली छोड़ते समय देखा था।

अखरोटी रंग के दरवाज़े पर पीतल की नेम-प्लेट चमक रही थी- उसके डैडी के नाम की। आंखें नेम-प्लेट के अंतिम अक्षरों पर अटक गईं -

डी. एस. पी. (रिटायर्ड) मन में एक प्रतिमा उभर आई - शेर जैसी आंखों वाले एक प्रभावशाली व्यक्ति की। मैंने दूसरी बार बज़र के बटन पर उंगली दबाई।

बिल्डिंग का गोरखा चौकीदार, जो नीचे से ही मेरी सूटकेस उठाकर साथ आया था, उसने शायद मेरी आतुरता भांप ली और हिचक कर बताया कि कल ''दीदी'' की तबियत बहुत ख़राब हो गई थी। डाक्टर भी बुलाया था। उन को कैन्सर है न...

लगा, चौकीदार ने मुझे घूंसा मार दिया। मैं उस अचानक आक्रमण के लिए हरगिज़ तैयार नहीं था। उस धक्के ने मेरा अपराध-भाव और भारी बना दिया। छाया को कैन्सर है - उसकी बिल्डिंग का चौकीदार जानता है और मुझे अब तक नहीं मालूम...

दोष मेरा ही था। पिछले पांच वर्षों में मैंने उन से सम्पर्क ही कितना रखा था!

दरवाज़े के पीछे भारी कदमों की आहट। अंदर से कोई धीरे-धीरे दरवाज़े की ओर बढ़ रहा था। सिटकनी में चाबी घूमने की हल्की आवाज़ और फिर उसके डैडी से भेंट।

सफेद घनी भौंहों के नीचे लगभग ढकी हुई दो आँखें - जिन्हें ऊपर उठाए बिना उन्होंने थकी हुई आवाज़ में पूछा - ''कौन?''

मैंने आगे बढ़ कर उन का चरण-स्पर्श किया।

''मैंने पहचाना नहीं...'' उन्होंने विवशता से कहा। लगा उनकी दृष्टि काफी कमज़ोर हो गई थी।

''मैं हूं...डैडी...मैं...''उन को मैं भी ''डैडी'' से ही सम्बोधित करता था।

''ओ...तुम हो... अंदर आओ न ...''

इस घर में मेरी आवाज़ की पहचान बाकी है - सोचकर खुशी हुई। लेकिन उन के इस छोटे से वाक्य का प्रथम अंश दूसरे अंश के कितना

समीप था - मैं समझना चाहता था। पर उनके मुड़ कर चल देने से मैं भी उनके पीछे पीछे चल पड़ा।

गुफा जैसे एक संकुचित कॉरीडार से गुज़र कर वे दांई ओर मुड़े जहाँ एक मध्यवर्गीय बैठक थी। सामने दीवान के साथ लैम्प-स्टैंड के पास थोड़ी रोशनी थी - एक घेरे में सीमित। सॉईड-टेबल पर रखी एश-ट्रे में एक अधजला सिगार पड़ा था - जिसमें से अब भी हल्का हल्का धुंआं निकल रहा था। लगा वे काफ़ी पहले से जगे हुए थे या फिर रात भर सोए नहीं थे।

कमरे में एक रहस्यमय गंध थी - जो बारिश के दिनों में बंद खिड़कियों वाले मकानों में अक्सर रहती है।

अत्यन्त नम्र भाव से मुझे सोफ़ा पर बैठने का अनुरोध कर वे दीवान पर बैठ गए और सिगार उठाकर उसे फिर से सुलगाने की कोशिश करने लगे।

हम आमने सामने थे।

पल भर के लिए उनके चेहरे पर केंद्रित लाईटर के पीले प्रकाश में मैंने देखा - उनकी सजीव आंखें जो हर समय और हर दिशा में संदेह की दृष्टि से देखती थीं, बुझी हुई और सहमी सी थीं। शायद उन्होंने देख लिया कि मैं लगातार उन की तरफ़ देख रहा था।

"अच्छा किया... तुम आए..." कहकर वे चुप हो गए। वैसे भी वे मुंह से कम, आंखों से अधिक बोलते थे और हम उन की आंखों की भाषा समझ लेते थे - हम यानी मैं और छाया - कॉटेज के विद्यार्थी-जीवन में और उसके बाद उसी कॉलेज में अध्यापन के ज़माने में।

"छाया कैसी है अब?" मैंने पूछा।

"No hope..." काफ़ी देर बाद उन्होंने उत्तर दिया और जैसे अपने आप से बोलते हुए धीमे स्वर में कहा - "मैं सोचता हूं..."

"क्या सोचते हैं आप?"

सिगार का धुंआँ शायद उनके फेफड़ों में घुस गया। वे बुरी तरह खांस उठे। कुछ देर बाद अपनी सांस संभालकर उन्होंने उसी अंदाज में, जैसे दूर से बोलते हुए कहा, "अब कुछ भी नहीं... It is too late perhaps"

"कहाँ है ?"

"उस कमरे में" उन्होंने दांई ओर इशारा किया "तुम चाहो तो उससे मिल सकते हो... लेकिन अगर सो रही हो तो जगाना नहीं। कल दिन भर पीड़ा में रही।"

"डाक्टर?"

"दो बार आया था...दर्द उभरता है तो जैसे सौ सौ बिच्छु एक साथ डंक मारने लगते हैं...उसकी छटपटाहट...उफ़..."

वे फिर खो गए। कुछ देर बाद संयत हो कर बताया - "डाक्टर इन्जेकशन दे जाता है - उस से कुछ आराम मिलता है - लेकिन थोड़े समय के लिए।

"क्या वास्तव में...?"

"हां...कैन्सर ही है।"

"कहां ?"

"आंतड़ी में"

"उसको मालूम है ?"

"हमने बताया नहीं... लेकिन हर हफ़ते टाटा इन्स्टीट्यूट जाने का अर्थ वह न समझती होगी, ऐसा नहीं..."

"कालेज ?"

अप्रैल तक पढ़ाती रही। वैकेशन में ही पता चला। फिलहाल छुट्टी पर है। पर बहुत ज़िद करती है जाने का..."

"उसकी मनोदशा कैसी है ?"

"पुलिस-अफ़सर की बेटी है ?" वे तन कर बोले, "रिलीफ़ मिलते ही मुझे सांत्वना देने बैठ जाती है..."

"देखूं ? शायद जाग रही हो..."

"उनकी सिगार शायद फिर बुझ गई। उसको एशट्रे में छिटककर उन्होंने फिर लाईटर जलाया और होठों में अटके हुए सिगार को हिलाकर उन्होंने अनुमति देने के अंदाज़ में दरवाज़े की ओर इशारा किया।

मैं उठ खड़ा हुआ और दबे पांव कमरे में चला गया।

छाया के कमरे में बैठक से भी अधिक अंधेरा था। शुरु शुरु में कुछ भी साफ़ नज़र नहीं आया। धीरे धीरे कमरे की कुछ चीज़ें मेरी आंखों में आकार पाने लगीं। सब से पहले एक चौड़ा पलंग और उस पर सफ़ेद चादर में लिपटी हुई एक आकृति। कितनी छोटी लग रही थी वह! गोया दस बारह वर्ष की लड़की सो रही हो। विश्वास ही नहीं हुआ कि वह छाया हो सकती है।

पलंग के पास एक छोटा सा कप-बोर्ड - उस पर कुछ अध-भरी अध-खाली शीशियां - पानी का जग - दाएं तरफ शो-केस पर एक स्टीरियो-कैसेट-डेक, उसके आस पास बिखरी हुई कैसेट्स-पलंग के सामने दीवार के साथ दो सोफ़ा-चेयर्स - धीरे धीरे सब दिखाई दिए।

मैं चुप चाप उसके सामने बैठ गया।

उस वक्त वह चैन से सो रही थी। अंधेरे में भी उसका चेहरा पहचान से परे नहीं लगा। कम से कम उसके चेहरे पर उसकी बीमारी का कोई प्रभाव प्रकट नहीं था। उसका चेहरा देख कर मुझे लगा - वे लोग बेकार ही आतंकित हो रहे हैं। असल में आदमी को बीमारी से अधिक बीमारी की चेतना खा जाती है। मानसिक स्तर पर हार स्वीकार करने के बाद ही वह टूटना शुरु करता है और फिर धीरे-धीरे बिखरना। छाया के चेहरे पर ऐसा कोई आभास नहीं था। कुछ थकान अवश्य थी - जो कठिन संग्राम का स्वभाविक परिणाम लगी। उसने हार नहीं मानी थी - मुझे विश्वास हो गया।

"My brave girl ..." मैं मन ही मन कह बैठा।

‘‘अरे...तुम...?

वही पहचानी आवाज़ - लम्बी अवधि के बाद सुनने पर भी उसका परिचय खोया नहीं था। आंखें खोलते ही वह बोल उठी - ‘‘मैं सपना तो नहीं देख रही...’’

‘‘छू कर देख लो।’’ मैं उठकर उसके पास पहुंच गया और अपना हाथ उसके सिरहाने पर रख दिया। उसने आहिस्ता आहिस्ता करवट लेकर अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया और आंखें मूंद लीं।

‘‘तुम्हारा हाथ इतना ठण्डा क्यों है ?’’ उसने पूछा ।

‘‘मेरा हाथ ठण्डा नहीं, तुम्हारा हाथ गर्म है’’ मैंने उतर दिया।

‘‘कहीं कोई असमानता अवश्य है ।’’

‘‘शायद...’’

‘‘तुम बैठ क्यों नहीं जाते ।’’

मैं उसके पास पलंग के किनारे बैठ गया। उसके बिस्तर से दवाइयों की गंध आ रही थी - बहुत हल्की ।

‘‘क्या सोच रहे हो ?’’

‘‘कुछ नहीं...’’

‘‘तुम्हें यहां की गंध सता रही है न... सच बताना...’’

कमाल है ! वह अब भी मेरे विचारों की आहट तक पहचान लेती है।

‘‘इन दिनों मुझे इतने इन्जेकशन लगे हैं...इतनी स्प्रिट लगाई गई है कि मैं स्वयं स्प्रिट बनती जा रही हूं...’’

मैंने उसकी आँखों में देखा - वहां एक थकी हुई शरारत नज़र आई।

‘‘घबराओ नहीं। स्प्रिट बनकर तुम्हारा पीछा नहीं करूंगी। बनी भी तो पेड़ बनूंगी अगले जन्म में...’’

‘‘कैसी बातें करती हो...।’’

‘‘तुम्हें पहाड़ अच्छे लगते हैं न... मैं किसी हिल स्टेशन पर पेड़ बनूंगी...तुम आओगे न...’’

"छाया..." उसके बालों को सहलाते हुए मैं इतना ही कह सका।

"कब आए ? तुमसे यह पूछना तो भूल ही गई।"

"अभी... कुछ देर पहले"

"कहां से ?"

"अहमदाबाद से"

"अब वहीं हो क्या ?"

"नहीं... माउंट आबू से लौटते हुए वहां गया था।"

"पार्टी के काम से ?"

"ऐसा ही समझो। एक कारखाने में तुम्हारा भाई मिल गया - जो लेबर - आफीसर है। उसी ने तुम्हारे बारे में बताया । सुनते ही चला आया।"

"थैंन्कयू कहूं..."

उसके होठों पर शरारत भरी मुस्कान थी - एक थकी हुई मुस्कान।

छाया को इस प्रकार हंसता बोलता देखकर मुझे लगा उसके भाई ने जो कुछ बताया था - झूठ है । चौकीदार ने, डैडी ने जो कुछ कहा था, गलत है । सही और सच सिर्फ़ उसकी मुस्कराहट है जो अब भी है और लगभग वैसी ही है जैसी क्लास-रूम में लेक्चरार देते हुए तथा कामन-रुम और कॉफ़ी-हाउस में व्यवसाय, व्यवस्था और सक्रिय राजनीति जैसे विषयों पर बहस करते हुए वह बिखेरती रही थी।

"दिल्ली में ही हो ?" उसने पूछा।

"दिल्ली तो तुम्हारे वहां रहते हुए ही छोड़ गया था।"

"अरे हां, याद आया, तुम त्यागपत्र देकर कल्कत्ता चले गए थे..."

"उसके बाद कॉफ़ी यात्राएं की हैं ।"

"कहां पहुंचे हो?"

"कहीं भी नहीं..."

"मत्लब?"

''पिछले महीने सातवीं नौकरी छोड़ दी...''

''कहां ?''

''दार्जीलिंग के पास एक चाय बगान में''

''राजनीति के प्रध्यापक का चाय के खेतों से क्या सम्बंध ?''

''पार्टी का आदेश था। अपना काम पूरा कर चला आया।

''तो वही हरकतें अभी तक जारी हैं !''

''तुम डैडी की भाषा कब से बोलने लगी हो ?''

''ओ...सॉरी...''

वह अचानक चुप हो गई और कहीं खो गई। थोड़ी देर बाद जैसे दूर से बोलते हुए उसने कहा - ''डैडी के प्रभाव से इन्कार नहीं कर सकती... विशेषकर जब से मां नहीं रही। भाई दोनों आते हैं कभी कभी - औपचारिक्ता निभाने। डैडी ही... बहुत चिन्ता रहती है उनको मेरी...घंटों गुम सुम बैठे रहते हैं - अकेले...छुप छुप कर रोते हैं और स्वयं ही आंसू पोंछते हैं अपने...''

मुझे लगा उन की इस दशा में कहीं मेरा भी कुछ योगदान था - शायद - फिर वही अपराध - भाव।

''मां को क्या हुआ था?''

वही पुराना दमा । बम्बई की आर्द्रा में तीव्र हो गया।

''..........''

''तुम्हें अक्सर याद करती थी। तुम्हारी बातों को लेकर कई बार डैडी से गर्मा-गर्मी भी हुई थी उनकी...''

''..........''

''तुम चाय पी चुके ?''

''अभी कहां?''

उसने अपना दांयां हाथ दीवार पर फेरते हुए पलंग के पास लगा बटन दबाया।

... ...

संध्या होने लगी थी।

हम बालकनी में आ गए। छाया मेरे साथ खड़ी थी - दोनों हाथ रेलिंग पर रख कर - दूर समुंद्र की ओर देखती हुई।

उनकी बिल्डिंग सड़क के ऐसे मोड़ पर खड़ी थी कि बालकनी में आने पर तीन दिशाओं से समुंद्र दिखाई देता था। हवाओं के इशारों पर चलती हुई लहरों को देखते देखते गति का एहसास होता था। लगता था - हम किसी समुंद्री जहाज़ की डेक पर खड़े हैं और जहाज़ धीरे धीरे चल रहा है - अनिश्चित यात्रा पर।

''अब भी लम्बी लम्बी यात्राएं करते हो ?''

''मैं तो इस समय भी यात्रा में हूं। यहां खड़े होकर तुम्हें ऐसा नहीं लगता ?''

''ऐसी यात्राएं तो आत्म छलावा हैं। हमें लगता है हम चल रहे हैं लेकिन होते हैं वहीं के वहीं । वहीं ?''

उसकी बात का तुरंत उत्तर नहीं दे सका।

''ठीक होती हूं तो अक्सर यहां चली आती हूं... और... चलो बैठ जाएं... मैं थक रही हूं।''

मैं उसका हाथ थामकर बेंत की कुर्सियों की ओर चलने लगा। एक ही कदम चलकर वह रुक गई।

''मुझे सहारे की आवश्यकता नहीं'' उसने धीरे से मेरे कान में कहा ''लेकिन तुम्हारा यूं साथ साथ चलना अच्छा लगता है...चलो...''

हम आमने सामने कुर्सियों पर बैठ गए - ख़ामोश केवल लहरें बोल रही थीं।

''लहरों को भी अपनी भाषा होती है। तुम्हें मालूम है?'' छाया ने गुम सुम अंदाज में कहा और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना कहती गई... ''मैं उनकी भाषा, उनकी संवेदना समझने लगी हूं। आधी रात को जब सो नहीं पाती हूं तो यहां आकर खड़ी हो जाती हूं और उनकी

बातें सुनती हूं। उनका हंसना, उनका रोना साफ़ साफ़ सुनाई देता है।
तुम चले तो नहीं जाओगे ?''

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

''तुम रहोगे न, बोलो ?''

''कल... जाना होगा...''

''बस...?''

''.....''

''यहां से कहाँ जाओगे ?''

''वापस अहमदाबाद। वहां का कार्य अभी अधूरा छोड़ आया हूं।''

''.....''

''शीध्र ही लौट आऊंगा। तुम इन्तज़ार करना''

''सच।''

''फिर तो मृत्यु को निराश करना पड़ेगा''

''व्यंग करती हो?''

''सच को तुम व्यंग समझते हो ?''

''नहीं...व्यंग को सच समझ लेता हूं कभी कभी।''

''भाषा से कितनी चालाकी करते हो ?''

उस प्रसंग को मैं आगे बढ़ाना नहीं चाहता था क्योंकि सच का मुझे आभास था। छाया मेरी विवशता समझ गई शायद । उसने स्वयं विषय बदल दिया।

''दूर...क्षितिज पर वह जहाज़ देखते हो ?'' उसने समुद्र की ओर इशारा करते हुए पूछा।

''मामूली सा हिस्सा दिखाई देता है ।''

''तुम बता सकते हो वह आ रहा है या जा रहा है ?''

''शायद आ रहा है'' - मैंने गौर से देखने के बाद उत्तर दिया।

''नहीं, वह जा रहा है।''

''तुम्हें कैसे मालूम?''

''उस मार्ग से कभी किसी जहाज़ को आते हुए नहीं देखा। केवल जाते हुए देखा है।''

''वहां बैठकर क्या यही देखती रहती हो?''

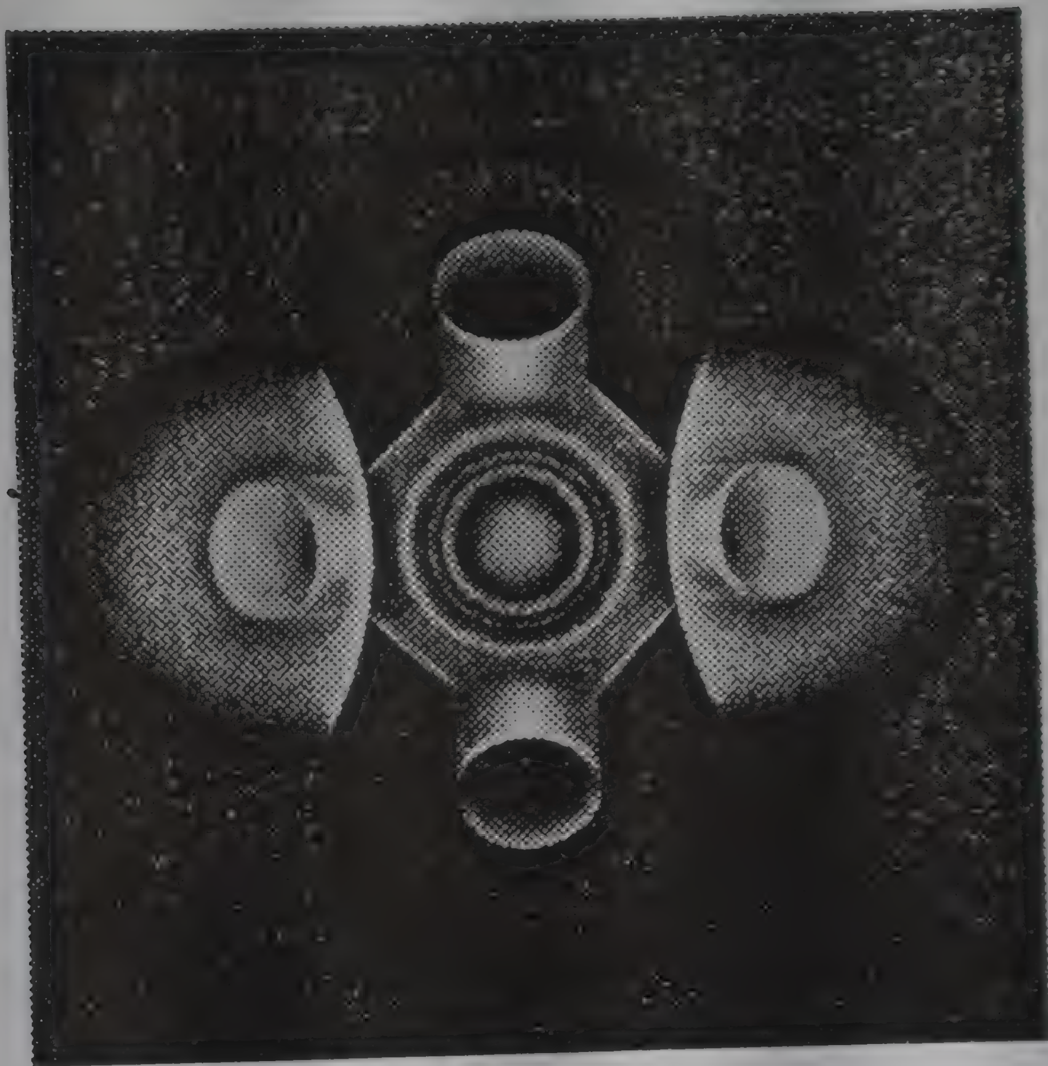
उत्तर में उसने सिर्फ़ एक लम्बी सांस ली और मेरा हाथ पकड़ लिया - ज़ोर से।

बम्बई में वह मेरी अंतिम संध्या थी ।

... ...

तार का नीला काग़ज़ अब भी मेरे हाथ में है - फिर भी विश्वास नहीं होता कि छाया अब नहीं है।

मन फिर एक बार बम्बई चला जाता है और आठवीं मंज़िल के उस फ़्लैट का बज़र बजाकर, संकरे अंधेरे कॉरीडार से गुज़र कर, ड्राईंग रुम से होते हुए, स्प्रिट की गंध वाले कमरे में शो-केस के ऊपर स्टीरियो के पास बिखरी हुई कैसेट्स में कैद उदास आवाज़ों को सुनता हुआ, बालकनी में बैठ जाता है - जहां लहरों की आवाज़ें सुनाई देती हैं - लेकिन उन की भाषा समझने वाली छाया अब वहां नहीं है ।



नोट

'एक थकी हुई मुस्कान' सिन्धी में तथा हिन्दी में भी पहले प्रकाशित है।

'उपसंहार' कहानी की दस्तख़त कई जगहों पर काट-कूट तथा संशोधनों के साथ ''रफ़'' हालत में मिली है। इस का पहला हिस्सा आत्मकथन के रूप में अलग दिखता है। चार पृष्ठों के बाद की सारी कथा छाया के साथ अंतिम मुलाकात की ही है - पर कुछ विस्तार से है।

जो है - जैसा है - रहने दिया है ।

-प्रकाशक

उपसंहार

दीवार पर फड़फड़ाता कैलेन्डर, कैलेन्डर पर सोए हुए दिन, हफ्ते, महीने, साल कहीं कुछ विशेष नहीं। केवल कभी-कभी कोई तारीख़ अचानक उठकर सामने खड़ी हो जाती है। और हमारी हथेली पर कुछ घटनाएं-कुछ अनुभव, कुछ संवेदनाएं छोड़कर चली जाती हैं। हम अपनी मुट्ठी बन्द कर लेते हैं। इस पूंजी को सावधानी से संभालने लगते हैं लेकिन मुट्ठी खोलने पर खाली स्मृतियां वहां मिलती हैं...

डायरी लिखने के पीछे कुछ कुछ स्मृतियों की सुगंध और सुगंध की समृतियों को संभाल रखने की भावना नहीं होती? अपने आप से पूछता हूं।

अपने खालीपन को यादों से भरना नहीं चाहता। शायद इसी कारण वर्षों से डायरी लिखने की आदत छोड़ दी है। आज अचानक डायरी लिखने को मन हुआ है। तो कुछ अजीब सा लग रहा है।

जब से स्नो डाऊन होस्पीटल और नर्सिंग होम के इस नये कमरे में आया हूं और डॉक्टरों ने पूर्ण-विश्राम का परामर्श दिया है; तब से कुछ लिखने की इच्छा लगातार ज़ोर पकड़ती रही है। डॉक्टरों से पूछ नहीं पा रहा हूं कि मुझे अभी लिखना चाहिए या नहीं। वैसे पलंग पर दो सिरहानों के सहारे अध-लेटे अध-बैठे या अंगीठी के पास आराम कुर्सी पर बैठकर, अपने को थकाए बिना, थोड़ा थोड़ा पढ़ने की अनुमति उन्होंने दे दी है। मैं समझता हूं कुछ-कुछ लिखने की इजाज़त देने में भी उन को कोई आपत्ति

नहीं होनी चाहिए। फ़िर भी...

ज़िन्दगी ने एक ऐसे मोड़ पर लाकर फेंका है जहां कुछ भी साफ दिखाई नहीं देता। घटनाओं के इर्द गिर्द कुहासा छा गया है। चहेरे धुंधले पड़ गए हैं। संबध सूत्र बिखर गए हैं। कुछ दोष शायद दवाइयों का है। अधिकतर समय अचेतन या अर्धचेतन अवस्था में गुज़रता है। अजीब स्थिति है एक पल में जो लगता है कि है, अगले ही क्षण लगता है कि नहीं है। आस पास केवल कुछ सफ़ेद परछाइयां नज़र आती हैं, धीमी दबी आवाज़ों में फुसफुसाती हुई। फिर कुछ भी नहीं रहता। न कोई दृश्य-न कोई ध्वनि। कोई अहसास भी नहीं।

एक पलंग, एक सफ़ेद कपबोर्ड, एक आराम कुर्सी- कुछ दिनों से मेरी दुनिया एक कमरे तक सीमित हो गई है।

इस नितांत अकेलेपन में, कुछ छोटी-छोटी यादें तरह तरह के रंग लपेट कर, तितलियों की तरह कमरे में चली आती हैं और मन उनके पीछे-पीछे उड़ने लगता है। कई दिनों से, और न जाने कितने दिनों तक अस्पताल के एक कमरे में बिस्तर से बंधे हुए आदमी के पास मन में टांक ली गई यादों के सिवाय और होता ही क्या है?

अस्पताल में भरती हुए कितने दिन हो गए, ठीक से याद नहीं। पलंग की दायीं ओर कपबोर्ड पर हल्के नीले प्लास्टिक फाइल में पड़े अनेक काग़ज़ देख कर लगता है काफी समय से यहां हूं।

इमरजंसी वार्ड इन्टेन्सिव केयर युनिट और फिर नर्सिंग होम का यह कमरा। जीवन और मृत्यु के संघर्ष में समय अपना विशिष्ट परिचय खो चुका है। लगता है, जो हो चुका, बाकी है अभी उसका होना और जो होना है, हो चुका कब का।

पिछले कुछ दिनों के बारे में सोचता हूं, तो कुछ विशेष नज़र नहीं आता। हां ऑक्सीजन ई.सी.जी, बी.पी., सोर्बिट्रेट और काम्पोज़ जैसे

कुछ नये शब्दों से सम्बंध जुड़ा है। और डॉक्टरों का आग्रह कि इन सम्बंधो के साथ निभाते हुए, कुछ चीजों के अलावा तनाव और हो सके तो सोचने से भी सम्बन्ध तोड़ दूं। और अगर सोचने से भी सोचना बन्द न हो, तो ऐक काम्पोज़- यानी नकली नींद सुलाने वाली एक गोली लूं - जो सपनों को भी पास आने नहीं देती।

- अरे... आपने अभी तक नाश्ता नहीं किया - आवाज़ में सख्ती भी है और नर्मी भी दरवाज़े की ओर देखता हूं - नर्स खड़ी है-

- सिस्टर, मेरे सामान का क्या हुआ?

- बात बदलने की चालाकी मत कीजिए। पहले बताइये कि अभी तक नाश्ता क्यों नहीं किया? और नाश्ता नहीं किया, इसका मतलब गोलियों का मॉर्निंग डोज़ भी नहीं लिया। डॉकटर राऊन्ड पर आयेंगे तो मैं कया जवाब दूंगी? बताइये?

मैं एकदम उठने की कोशिश करता हूं।

''नहीं... नहीं... ऐसे नहीं...'' वह तेज़ी से पलंग के पास पहुंच जाती है और मैं लेटा ही रह जाता हूँ।

दवाइयों की छोटी - बड़ी शीशियों और बोतलों से भरी सफेद ट्रे कप बोर्ड पर रखते हुए वह कहती है - ''कितनी बार समझाया है, आपको सीधा नहीं उठना चाहिये। इस से सीने पर दबाव पड़ता है। आराम से उठिए।...

मैं पहले दायीं ओर करवट लेता हूँ और फिर बायां हाथ बिस्तर पर टिका कर, धीरे -धीरे उठ कर बैठ जाता हूँ।

''हां, ऐसे- आप बार बार भूल जाते हैं...''

''कि मुझे दूसरा हार्ट अटैक हुआ था और मैं...''

'' नहीं- नहीं... मेरा मतलब आपको यह सब याद दिलाना नहीं था... मैं सिर्फ उतना कहना चाहती थी कि आप थोड़ी सावधानी बर्तें ...''

''समय पर खाना खायें, गोलियां और कैप्सूल चबायें और मुकम्मिल आराम फरमाएं... यही न?''

कॉर्न फ्लेक्स डिश में दूध डालकर उसे चमच से घुमाती हुई वह मेरे पास पहंच जाती है।

''लीजिए...''

''लेकिन मेरे सामान का क्या हुआ, सिस्टर...''

''वह मैंने होटल से मंगवा लिया है। एक अटैची, एक शोल्डर बैग और एक कम्बल, डयुटी-रूम में रखा है। दोपहर की नींद के बाद आपको पहुंचवा दिया जायेगा। अब नाश्ता शुरू कीजिए।

मैं दूध में भिगोए हुए कॉर्न फ्लेक्स का एक चमच मुंह में डालता हूं। 'ऑफ...यह तो फीका है...'

''इसी से काम चलाना होगा। आपके लिए अधिक चीनी मना है। और हां, थर्मास में और दूध पड़ा है नाश्ते के बाद गोलियां और कैप्सूल लेना न भूलियेगा।

वह कपबोर्ड पर पड़ा नीले प्लास्टि के कवर वाला फाइल उठा लेती है और तेज़ी से पन्ने पलटते हुए अंतिम पृष्ठ पर पहुंच कर, सफ़ेद ट्रे में पड़ी शीशियां खोल कर, अपने आप से बोलते हुए कुछ गोलियां निकालकर बिस्तर पर रखती जाती है सोर्बेट्रिट एक, आइसोप्टिन दो, परसेन्टाइन दो, युनिज़ाइम एक और ये रहा एक काम्पोज़...और मैं चली...''

''सिस्टर...''

''देखिये, मुझे और मरीज़ो की भी सेवा करनी है।''

''तो आप मानती हैं कि मैं भी एक मरीज़ हूं?''

''आपसे मैं बहस नहीं कर सकती...''

''सामान में मेरा टेप रिकार्डर...''

''है। मार्ग्रेट कह रही थी कि शोल्डर बैग में टेप रिकार्डर है। इसलिए

उसे सावधानी से उठाया जाय।''

''मार्ग्रेट आई थी?''

''आप से मिलने के लिए बहुत देर बैठी। आप सोए हुए थे।''

''कब ?''

''सुबह सात बजे। मार्ग्रेट शाम को शायद फिर आयेगी।

''ऐसा कह रही थी क्या?''

''हां। कह रही थी आपके नाम एक तार आया है, जो वह खुद आकर देना चाहती है। उसकी मम्मी भी आई थी। मिसेज़ नेल्सन।

वह शाम को फिर आई।

होटल के पते पर मेरे नाम आए तार की बात और फिर इतने दिनों बाद मिलने के बावजूद उस के चहेरे पर किसी भी भाव का अभाव देख कर, मन में असम्भव के विरुद्ध अभी तक बन्धी हुई सम्भावनाएं बिखर गईं।

लगा-छाया शायद...

आशंका सही निकली...

छाया अब नहीं रही। तार में यही संदेश था। एक बड़ी घटना की संक्षिप्त सूचना।

मेरी आंखे तार पर अटक गयीं। पता नहीं, कब काग़ज़ का वह टुकड़ा मरोड़ कर मैंने हाथ में भींच लिया। पता नहीं कब और कैसे उस ने मुझे बिस्तर पर लिटा दिया , और आराम कुर्सी खींच कर पलंग के पास बैठ गई। मैंने अपने माथे पर सांत्वना भरा सहलाव मेहसूस किया।

कुछ भी अप्रत्याशित या असम्भव नहीं हुआ था। जो हुआ था, उसकी कल्पना मैंने तब ही कर ली थी। जब छाया से अंतिम बार मिलने अचानक बम्बई पहुंच गया था। वह जून का पहला सप्ताह रहा होगा। मानसूनी वर्षा शुरू होने वाली थी।

ट्रेन में रात भर जागते खिड़की से काले पेड़ों के सरकते हुए साये देखते पांच सौ किलो मीटर यात्रा तय की थी फिर टैक्सी में बैठकर बांद्रा से कार्टर रोड पहुंचा। आठ मंज़िली इमारत के अंतिम फ्लोर पर उनके फ्लैट के सामने खड़े होने के बावजूद विश्वास नहीं हो रहा था कि छाया से साक्षात्कार हो सकेगा। उस को उसी रुप में देख पाऊंगा। जिस में शायद तीन साल पहले देखा था। नई-दिल्ली स्टेशन पर।

उसे विदा करने के लिए स्टेशन पर जाने की ज़रा भी इच्छा नहीं थी। कुछ ही दिन पहले उसे लिखा हुआ 'अंतिम' पत्र, मेरे लिए दीवार बन रहा था। मुझे याद है- ''मैंने लिखा थाः

''छाया,

पिछले कुछ दिनों,मैंने ही नहीं, हम दोनों ने, एक दूसरे को जो घाव पहुंचाए हैं, वे कभी भर नहीं पाएंगे-शायद। इसलिए तुम से और अपने आपसे अजनबी बन कर रहने का मेरा निर्णय अंतिम ही समझो। वैसे उस दिन जो हुआ, होना नहीं चाहिए था। और जो नहीं हुआ हो जाना चाहिए था।

गुनाह से बचने के लिए किये गए गुनाह कितने भारी होते हैं, कितनी पीड़ा पहुंचाते हैं तुम नहीं जानती। तुम चाहे उसे ग़लत समझो, मैं उसे सही समझता हूं। और समझता रहूंगा। सुख का तिरस्कार स्वाभाविक नहीं है। लम्बे उर्से तक घुप्प अंधेरे में रहने के बाद प्रकाश से अचानक साक्षात्कार आंखों को स्वीकार्य नहीं होता।- मैं मानता हूं। लेकिन इस में दोष आँखों का नहीं, और न ही प्रकाश का है। इसलिए उस स्थिति को लेकर मैं तुम्हें दोष नहीं दूंगा। तुम मुझे दोषी समझती हो। तुम्हारा यह निर्णय मैं स्वीकार करता हूं। और हां, तुम्हारे घर का वह कमरा, जहां मेरी आत्मा की समाधि बन गई है, उस में प्रवेश का अधिकार मुझे तुमने ही दिया था , और तुम्हीं ने छीन भी लिया। वहां आने का अधिकार मैं

फिर नहीं मांगूंगा। तुमसे मांगूगा तो केवल इतना कि अपने आपको खुश रखना-हर तरह।

तुम्हारा कुछ भी नही।

निर्णय ले लेना आसान है। निभाना बहुत कठिन। छाया को लेकर मैंने समय-समय पर जितने भी निर्णय लिए थे, स्थितियों ने उन्हें बार बार बदल दिया था। शायद यही कारण था कि उस दिन न चाहते हुए भी, मैंने अपने आपको स्टेशन पर पाया।

"अजनबी..." शुरूआत उसी ने की।

".........."

"अब भी कुछ बोलोगे नहीं?"

"......................"

"मैं हमेशा के लिए जा रही हूं।"

"....................."

"मुम्बई की एक गर्ल्स कॉलेज में हिन्दी पढ़ाऊंगी।"

".............."

"मैंने बहुत सताया है न तुम्हें-अब बिलकुल नहीं सताऊंगी...सच.."

गाड़ी धीरे-धीरे सरकने लगी।

मन में अंकित छाया का अंतिम चित्र, धुंधला अवश्या गया है, बिलकुल मिट गया हो, ऐसा नहीं। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में खिड़की की सलाखों से झांकती दो बड़ी-बड़ी आंखें-कुछ कहने और कह न सकने के संघर्ष में फड़फड़ाते होंठ। चेहरे पर अस्फुट मुस्कराहट और इस मुस्कराहट के नफीस पर्दे के पीछे छुपी हुई मायुसी

पटरी पर चलते पहिये की तरह कुछ वाक्य प्लेटफार्म पर सरकने लगे।

-उदास मत रहना....

- अपना ख़याल रखना....

- लेखन जारी रखना....

- चिट्ठी का उत्तर देते रहना...

- अच्छा...टाटा...टाटा....बाय...

तीन साल बाद बीमार छाया के दरवाज़े पर खड़े होकर, उस दिन अपने को अपराधी सा समझ रहा था। मन में कई शंकाएं उत्पन्न हो रही थीं। हालांकि तब तक मेरे सामने स्थिति स्पष्ट नहीं हुई थी। पिछली रात ही अहमदाबाद से बम्बई जाने का निर्णय किया था। और सुबह होते-होते उनके फ्लैट के सामने था।

अखरोटी रंग के दरवाज़े पर, पीतल की नेम प्लेट चमक रही थी- उसके डैडी के नाम की। आंखें नेम प्लेट के प्रथम और अंतिम अक्षरों पर अटक गईं। लेफ्टीनन्ट कर्नल....रिटायर्ड।

मन में एक प्रतिमा उभर आई। शेर जैसी आंखों वाले एक प्रतिभाशाली व्यक्ति की। मैंने दूसरी बार बज़र के बटन पर उगंली दबा दी।

वॉचमैन, जो नीचे से ही मेरी छोटी सी अटैची उठाकर साथ आया था, उसने शायद मेरी आतुरता भांपकर बताया कि कल उनकी तबियत बहुत ख़राब हो गई थी। दो बार डॉक्टर को बुलाया था। कैन्सर का कोई इलाज नहीं है, साहब। कमाल है।

लगा, वॉचमैन ने मुझे घूंसा मार दिया। मैं उस अचानक आक्रमण के लिए हरगिज़ तैयार नहीं था। उस धक्के ने मेरा अपराध भाव और भारी बना दिया। छाया को कैन्सर है, उसकी बिल्डिंग का चौकीदार जानता है। और मुझे अभी तक नहीं मालुम।

दोष मेरा ही था। अपनी ज़िद में पिछले कुछ वर्षों से मैंने उन से संपर्क ही कहां रखा था।

दरवाज़े के पीछे से भारी आहट- बैसाखियों की ठक-ठक। अन्दर से

कोई धीरे-धीरे दरवाजे की ओर बढ़ रहा था। सिटकनी में चाबी घुमने की आवाज़। और फिर उनके पिताजी से भेंट।

सफ़ेद घनी भौंहों के नीचे लगभग ढकी हुई दो आँखें जिन्हें ऊपर उठाए बिना उन्होंने थकी हुई आवाज़ में पूछा "कौन?"

मैंने आगे बढ़कर उनका चरण स्पर्श किया।

"मैंने पहचाना नहीं..." उन्होनें विवशता से कहा। लगा उनकी दृष्टि काफी कमज़ोर हो गई थी।

"मैं हूं, बाबूजी...मैं..." उनको मैं भी बाबूजी से ही सम्बोधित करता था।

"अच्छा तुम हो। अन्दर आओ न।"

इस घर में मेरी आवाज़ की पहचान बाकी है, सोच कर खुशी हुई। लेकिन उनके छोटे से वाक्य का प्रथम अंश दूसरे अंश के कितना करीब था, मैं समझना चाहता था। पर उनके मुड़कर चल देने से मैं भी चल पड़ा। गुफा जैसे एक संकुचित कॉरीडार से गुज़रकर वे दायीं ओर मुड़े, जहां एक मध्य वर्गीय बैठक थी। सामने दीवान के साथ लैम्प स्टेन्ड के पास थोड़ा प्रकाश था। एक घेरे में सीमित। साइड टेबल पर रखी पीतल की एश ट्रे में एक अधजला सिगार पड़ा था। लगा वे काफी पहले से जगे हुए थे, या फिर रात भर सोए नहीं थे।

कमरे में एक रहस्यमय गंध थी। जो बारिश के दिनों में बन्द खिड़कीयों वाले मकान में अक्सर रहती है।

अत्यंत नम्र भाव से, मुझे सोफ़ा पर बैठने का अनुरोध कर, वे दीवान पर बैठ गए। और सिगार उठाकर उसे फिर सुलगाने की कोशिश करने लगे।

हम आमने सामने थे।

पल भर के लिए उनके चेहरे पर केन्द्रित लाइटर के प्रकाश में मैंने देखा

उनकी सजीव आंखों को, जो हर समय हर दिशा को संदेह और आक्रमण की दृष्टि से देखती थीं। अपराधी की तरह सहमी हुई थीं। शायद उन्होंने देख लिया था, कि मैं लगातार उनकी तरफ देख रहा था।

"अच्छा किया, तुम आ गए।" कहकर वे चुप हो गए। वैसे भी वे मुंह से कम, आंखों से अधिक बोलते थे। हम उनकी आंखों की भाषा समझ लेते थे। हम यानी मैं और छाया। शुरू से ही।

"छाया कैसी है अब?" मैंने पूछा।

"कोई उम्मीद नहीं रही।" कॉफ़ी देर बाद उन्होनें उत्तर दिया। जैसे अपने आप से बोलते हुए धीमे स्वर में कहा- " मैं सोचता हूं...

"क्या सोचते हैं आप...."

सिगार का धुआं शायद उनके फेफड़ो में घुस गया था। वे बुरी तरह खांस उठे। कुछ देर बाद अपनी सांस संभाल कर उन्होंने उसी अन्दाज़ में दुहराया, अब कुछ भी नहीं..."

"कहां है..."

"उस कमरे में..." उन्होनें बांइ ओर इशारा किया।

"तुम उससे मिल सकते हो। लेकिन सो रही हो तो जगाना नहीं। कल दिन भर पीड़ा में रही।"

"डॉक्टर..."

"बुलाया था, दर्द उभरता है तो सौ-सौ बिछू एक साथ डंक मारंने लगते हैं। उसकी छटपटाहट... उफ़..."

वे फिर चुप हो गए। फिर संयत होकर बताया "डॉक्टर इन्जेक्शन दे जाता है- उस से कुछ समय आराम मिलता है। कुछ समय के लिए।"

"क्या वास्तव में कैन्सर...?"

'हां। कैन्सर ऑफ गाल ब्लेडर। टाटा इन्स्टियूट ने कन्फर्म किया है अब तो....

"उसको मालूम है?"

"हमने नहीं बताया। लेकिन हर हफ्ते टाटा इन्स्टिटयूट जाने का मतलब वह नहीं समझती होगी, ऐसा नहीं।"

"उसकी मनोदशा कैसी है?"

"फौजी अफसर की बेटी है। रिलीफ़ मिलते ही मुझे सांत्वना देने बैठ जाती है।

"शायद जाग रही हो।"

"देख लो।"

मैं उठ ख़ड़ा हुआ। दबे पांव उसके कमरे में चला गया।

छाया के कमरे में बैठक से भी अधिक अंधेरा था। शुरू शुरू में कुछ भी साफ नज़र नहीं आया।

धीरे धीरे कमरे की कुछ चीज़ें मेरी आंखों में आकार पाने लगीं। सब से पहले एक चौड़ा पलंग और उस पर सफ़ेद चादर में लिपटी हुई एक आकृति। कितनी छोटी लग रही थी। गोया दस-बारह साल की लड़की सो रही हो। विश्वास ही नहीं हुआ कि वह छाया हो सकती है।

पलंग के पास एक छोटा सा कपबोर्ड। उस पर कुछ अध-भरी अध खाली शीशियां। पानी का जग। दायें तरफ शोकेस पर एक स्टीरियो-कैसेट-डेक। उसके आस पास बिखरी हुई कैसेट्स। पलंग के सामने दीवार के साथ दो सोफ़ा चेयर्स। धीरे धीरे सब दिखाई दिये।

मैं चुप-चाप उसके सामने बैठ गया।

उस वक्त वह चैन से सो रही थी। अंधेरे में भी उसका चेहरा पहचान से परे नहीं लगा। कम से कम उसके चेहरे पर बीमारी का विशेष प्रभाव प्रकट नहीं था।

उसका चेहरा देख कर मुझे लगा वे लोग बेकार ही आतंक्ति हो रहे थे। असल में व्यक्ति को बीमारी से अधिक बीमारी की चेतना खा जाती

है। मानसिक स्तर पर हार स्वीकार करने के बाद ही वह टूटना शुरू करता है। फिर धीरे-धीरे बिखरना। छाया के चेहरे पर ऐसा कोई आभास नहीं था। कुछ थकान अवश्य थी। जो आत्म संघर्ष का परिणाम लगी। उसने हार नहीं मानी थी। मुझे विश्वास हो गया। ब्रेव गर्ल। मैंने मन ही मन कहा।

"अरे...तुम....?"

वही पहचानी सी आवाज़। लम्बी अवधी के बाद सुनने पर भी उस का परिचय खोया नहीं था।

आंखें खोलते ही वह बोल उठी।-

"मैं सपना तो नहीं देख रही?"

"छू कर देख लो।" मैं उठकर उसके पास पहुंचा। और अपना हाथ उसके सिरहाने पर रखा। उसने आहिस्ता-आहिस्ता करवट लेकर अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया। आंखें बन्द कर लीं।

"तुम्हारा हाथ इतना ठंडा क्यों है?" उसने जैसे नींद में पूछा।

"मेरा हाथ ठंडा नहीं। तुम्हारा हाथ गर्म है। मैंने जवाब दिया।

"कहीं कोई असमानता अवश्य है।"

"शायद।"

"तुम बैठ क्यों नहीं जाते।"

"मैं उसके पलंग के किनारे बैठ गया। उसके बिस्तर से दवाइयों की गंध आ रही थी। बहुत हल्की।"

"क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नहीं।"

"तुम्हें यहां की गंध सता रही है न- सच सच बताना।

कमाल है। वह अब भी मेरे विचारों की आहट तक पहचान लेती है।

"इन दिनों मुझे इतने इन्जेक्शन्स मिले हैं, इतनी स्प्रिट लगाई गई है,

कि मैं स्वयं स्प्रिट बनती जा रही हूं।''

मैंने उसकी आंखों में देखा- वहां एक थकी हुई शरारत नज़र आई।

''घबराओ नहीं, स्प्रिट बनकर तुम्हारा पीछा नहीं करुंगी। बनी भी तो एक पेड़ बनूंगी- इस के बाद।''

''कैसी बातें करती हो।''

''तुम्हें पहाड़ अच्छे लगते हैं न। मैं किसी हिल स्टेशन का पेड़ बनूंगी। तुम आओगे न...''

''छाया।'' उसके बालों को सहलाते हुए मैं इतना ही कह सका।

''कब आए- तुमसे यह पूछना तो भूल ही गई।''

''अभी। कुछ देर पहले।''

''कहां से?''

''अहमदाबाद से।''

''अब वहीं हो क्या!''

''नहीं, माऊंट आबू से लौटते हुए, वहां रुका था। तुम्हारा भाई मिल गया। उसी से तुम्हारी अस्वस्थता का पता चला। सुनते ही चला आया।

''शुक्रिया अदा करु?''

उसके होठों पर शरारत भरी मुस्कान थी। एक थकी हुई मुस्कान।

छाया को इस प्रकार हंसता बोलता देख कर मुझे लगा उसके भाई ने जो कुछ कहा था, ग़लत है। सही और सच सिर्फ उसकी मुस्कराहट है। जो अब भी है, और लगभग वैसी ही है, जो वर्षों पहले क्लास रुम में लेक्चर देते हुए, कॉमन रुम में विभिन्न विषयों पर बहस करते हुए और कॉफी हाऊस में साहित्य चर्चा करते हुए वह बिखरती रहती थी। देह की थैली में सिमटे सैकड़ों घावों के बावजूद, उसके चेहरे पर बिखरी हुई मुस्कराहट मैं देखता ही रहा।

''दिल्ली में ही हो?''

"नहीं।"

"तो ?"

"कहीं-नहीं!"

"मतलब?"

"पिछले महीनें सातवीं नौकरी छोड़ दी!"

"कहां?"

"नैनीताल में!"

"वहां कैसे पहुंच गए?"

"स्थानीय कॉलेज का लेक्चरार लम्बी छुटी पर विदेश चला गया था। भारतीय दर्शन में डॉक्टरेट करने!"

"वापस आ गया?"

"नहीं। मेरा मन नहीं लगा। अब कहीं मन नहीं लगता।"

वह चुप हो गई। और कहीं खो गई।

काफी देर बाद, जैसे दूर से बोलते हुए उसने कहा- "तुम्हारे लेखन का क्या हाल है !"

"छोड़ दिया है। एक अर्से से कुछ भी नहीं लिखा।"

"क्यों?"

"अब लिखा नहीं जाता। लगता है- सभ बकवास है। आत्म छलावा है।...."

"आत्म छलावा भी कभी कभी जीने की अनिवार्य शर्त बन जाती है। तुम ही कहते थे।"

"कहता था। अब नहीं।"

"वह फिर चुप हो गई।

"तुम चाय पी चुके ?"

"अभी कहां।"

उसने अपना दायां हाथ दीवार पर फेरते हुए पलंग के पास लगा बटन दबाया और लगातार मेरी ओर देखती रही। गुप-चुप।

"छाया, इस तरह मुझे मत देखो। कुछ बोलो।

Some times silence speaks louder than words- यह भी तुम ही कहा करते थे।

".......''

छोटी-छोटी बातों से नाराज़ होकर, कॉलेज कॉमन रुम में, लायब्रेरी में, यहां तक कि कॉरीडार में आमने-सामने गुज़रने पर भी तुम अपरीचित जैसा व्यवहार करते थे। महीनों बात तक नहीं करते थे। याद हैं?''

"........''

"तंग होकर मैं ही समझौता करती थी।

तुम से। हर बार। यू इगोइस्ट....''

उसके माथे पर पसीने की बूंदें चमकने लगी थीं।

मैंने अपना रुमाल निकालकर उसके माथे की ओर बढ़ाया ही था कि उसने रुमाल छीन कर बिस्तर पर फैंक दिया।

"मुझे अपने आंसू अपना पसीना पोंछने के लिए किसी और के रुमाल की आवश्यकता नहीं पड़ी आज तक...''

चाहते न चाहते बात ऐसे मोड़ पर पहुंच गई थी, जहां से तुरंत लौटना ही ठीक था। लेकिन मैं कुछ सोचूं उस से पहले नौकर चाय की ट्रे लेकर कमरे में दाख़िल हुआ। मैंने राहत की सांस ली।

"चाय बना दूं- मेम साब?''

"नहीं। तिपाई पर रख दो।

नौकर चाय की ट्रे तिपाई पर रखकर चला गया। मैं चाय बनाने के लिए उठ ही रहा था कि उस ने रोक लिया। और मेरे हाथ को एक बार चूमकर अपनीं दोनों आंखों पर रखते हुए कहा-

"सॉरी!"

"सॉरी तो मुझे कहना चाहिए।"

"तुम्हारा ईगो तुम्हें ऐसा करने देगा?"

चाय उसने अपने हाथों से बनाई। कुछ देर की ख़ामोशी के बाद, बात फिर उसीने शुरु की।

"तुम्हारे उस उपन्यास का क्या बना?"

"कौन सा?"

"जो तुमने सात साल पहले लिखना शुरु किया था।"

"वहीं का वहीं है।"

"क्या मैं समझ लूं कि तुम वह पूरा नहीं करोगे?"

"........"

"निर्मल"

"........."

"वचन दो कि तुम वह अवश्य पूरा करोगे।"

"......."

"यह मेरी अंतिम इच्छा है, निर्मल।"

Don't say that....Please.....

मेरा हाथ उसके मुंह पर पहुंच जाता है। जिसे वह अपने दोनों हाथों से पकड़ लेती है।"

"इस बारे में मैं तुमसे और कुछ नहीं कहूंगी।" और मेरा हाथ झटके से छोड़ देती है।

शाम होने लगी थी।

हम बालकनी में आ गए। छाया मेरे साथ खड़ी थी। दोनों हाथ रेलिंग पर रखकर, दूर समुद्र की ओर देखती हुई।

उनकी बिल्डिंग सड़क के ऐसे अर्ध गोल मोड़ पर खड़ी थी बालकनी

में आने पर तीन दिशाओं से समुंद्र दिखाई देता था। हवाओं के इशारों पर चलती लहरों को देखते देखते गति का अहसास होता था। लगता था हम किसी समुद्री जहाज़ की डेक पर खड़े हैं, और जहाज़ धीरे-धीरे चल रहा है। अनश्चित यात्रा पर।

''अब भी लम्बी- लम्बी यात्राएं करते हो?''

''मैं तो इस वक्त भी यात्रा में हूं। यहां खड़े होकर तुम्हें ऐसा नहीं लगता?''

ऐसी यात्राएं तो आत्म छलावा है। हमें लगता है, हम चल रहे हैं, लेकिन होते हैं वहीं के वहीं। नहीं?

उसकी बात का तुरंत उत्तर नहीं दे सका।

ठीक होती हूं तो यहां चली आती हूं।....और चलो बैठ जाएं....मैं थक रही हूं।

मैं उसका हाथ थाम कर बेंत की कुर्सियों की ओर जाने लगा। एक ही कदम चलकर वह रुक गई। मुझे सहारे की आवश्यकता नहीं। उसने शरारत भरे अंदाज़ में धीरे से मेरे कान में कहा- ''लेकिन तुम्हारा यों साथ-साथ चलना अच्छा लगता है।.....चलो.....''

हम पास-पास कुर्सियों पर बैठ गए। ख़ामोश। केवल लहरें बोल रही थीं।

लहरों को भी अपनी भाषा होती है। तुम्हें मालूम है? छाया ने गुम-सुम अंदाज में कहा। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना कहती गई- ''मैं उनकी भाषा- उनकी संवेदना समझने लगी हूं। आधी रात को जब नींद नहीं आती, मैं यहीं खड़ी होकर उनकी बातें सुनती हूं। उनका हंसना,उनका रोना साफ़ साफ़ सुनाई देता है। तुम चले तो नहीं जाओगे?''

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

'तुम रुकोगे न, बोलो?''

'दो-एक दिन रह सकता हूं।

'बस!'

"........"

यहां से कहां जाओगे?

"शिमला।"

"वहां भी कोई लीव वैकेन्सी है क्या?"

"नहीं, ऐसे ही!"

"कुछ लिखने का प्रोग्रॅाम है?"

"लिखने के लिए पहाड़ पर जाना मुझे नाटकीय लगता है।"

"इन दिनों क्या होगा वहां?"

"बारिश और कुहासा । भूल गई तुम?'

"तुम्हें भी कुहासा अच्छा लगता है?"

"मुझे शिमला का हर मौसम अच्छा लगता है।"

"सर्दी भी!"

"वह तो सब से अधिक । स्नोफाल से मुझे विशेष मोह है। शिमला का वह अंतिम स्नोफाल जो हमने एक साथ देखा था, याद है?"

"कुछ याद है- कुछ भूल गई हूं।"

"तुम तो जानते हो। जो मुझे अच्छा लगता है, याद रखने लायक लगता है, उसे कभी नहीं भुलाती.... और...."

"........"

वहां से लौटकर तुमने स्नोफाल पर नई कविताएं लिख भेजी थीं मुझे। जो अब भी सुरक्षित हैं मेरे पास। मैंने उन्हें डायरी में उतार दिया है।"

"व्यक्तिगत संवेदनाएं थीं वो तो। उन को कविताएं कैसे कहती हो? तुम तो साहित्य की प्राध्यापिका हो।"

"हूं नहीं, थी। छहः महीनों से छुट्टी पर हूं और...."

मैं उस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाना चाहता था। छाया मेरी विवशता समझ गई शायद। उसने स्वयं विषय बदल दिया।

"दूर क्षितिज पर एक जहाज़ देखते हो।" उसने समुद्र की ओर इशारा करते हुए कहा।

"मामुली सा हिस्सा दिखाई देता है।"

"तुम बता सकते हो कि वह आ रहा है या जा रहा है!

"शायद आ रहा है।" मैने ग़ौर से देखने के बाद उत्तर दिया।

"नहीं वह जा रहा है।" उसने निश्चित भाव से कहा।

"तुम्हे कैसे मालुम?"

"उस मार्ग से कभी किसी जहाज़ को आते हुए नहीं देखा।"

"यहां बैठ कर क्या यही देखती रहती हो?"

उत्तर में उसने सिर्फ एक लम्बी सांस ली और मेरा हाथ पकड़ लिया। ज़ोर से।

"सुनो! मेरे साथ समुंद्र तक चलोगे?"

"इस वक्त?"

"यही तो वक्त है।"

"लेकिन तुम"

"मुझे कोई तकलीफ नहीं होगी। सड़क ही तो पार करनी है!"

"बाबूजी!"

"उन्हें खुशी ही होगी।"

"तो चलो।"

समुंद्र तक पहुंचने में हमें मुश्किल से पांच मिनिट लगे। इस बीच उसने अपने कमरे से ग़ुजरते हुए ड्रेसिंग टेबल के पास रुककर जल्दी जल्दी में अपने बाल ठीक किये। बैठक पार करते हुए बाबूजी को बताया कि हम समुद्र तक जा रहे हैं। लिफ्ट से नीचे उतरे। सड़क पार की। और उस

चौड़ी दीवार पर जा बैठे जो समुद्र और सड़क के बीच बनी थी।

दीवार के आगे दूर-दूर तक बड़े बड़े पत्थर पड़े थे। कभी-कभी कोई लहर पत्थरों के ऊपर से उछलती हुई दीवार तक पहुंचने की कोशिश करती, लेकिन बीच में पड़े पत्थर उसके टुकड़े टुकड़े कर उसे पीछे धकेल देते।

"यहां तो पत्थर ही पत्थर हैं, छाया, पानी कहां है? रेत कहां है?"

"उसके लिए तुम्हें थोड़ा चलना पड़ेगा। उधर दायीं ओर। करीब एक फर्लांग।"

"तुम?"

"मैं चल सकती हूं। उठो।" और वह उठ खड़ी हुई। हम धीरे धीरे दीवार के साथ चलते रहे। कुछ ही दूर जाने पर देखा, दीवार का एक हिस्सा टूटा हुआ था।

"यहीं से नीचे उतरना होगा। छाया ने रुक कर बताया और एक पत्थर से दूसरे पत्थर और दूसरे से तीसरे पर कदम रखती हुई आगे बढ़ने लगी।

"यहां फिसलन होती है। ज़रा ध्यान से उसने मेरा हाथ पकड़ते हुए कहा। पत्थरों के बाद रेत और रेत के बाद लहरें और लहरों के साथ खुला समुद्र था।

हम गीली रेत पर बैठ गए।

"सूर्यास्त के समय समुद्र कितना सुन्दर लगता है!" उसने कहा।

"......"

समुद्र का यह नीला भूरा हरा रंग संगम आखों में, दिल में उतरता जा रहा है।

"..........

अब भी कविताएं लिखते हो?"

"........."

"अब भी कविता से सांस लेते हो? कविताएं खाते हो? कविताएं...."

"मेरा मज़ाक उड़ा रही हो...."

"तुम्हारी ही बात दुहरा रही हूं।"

".........."

"तुम्हारी यह ख़ामोशी सबसे बड़ा सितम होती है।"

"खामोशी के खिलाफ भी मैंने एक कविता लिखी थी।"

"सच! सुनाओ!"

"............"

"सुनाओ न!"

"मैं
जब चुप रहता हूं
तुम्हारी भाषा में
तब भी कुछ कहता रहता हूं।
मेरे बन्द होठों पर भी तुम
एक खुली हुई पुस्तक पाती हो!
एहसास की वह दहलीज़
जहां खड़ी होकर तुम
मेरे विचारों की आहट तक पहचान लेती हो!
वहां
अभिव्यक्ति के लिए शब्द
अनावश्यक बन जाते हैं।
इसलिए
मेरी ख़ामोशी के ख़िलाफ

तुम्हारी शिकायत का जवाब

सिर्फ खामोशी है मेरी!

कविता समाप्त कर मैंने सिगरेट सुलगा दिया और छाया की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने लगा।

भाषा से कितनी चालाकी करते हो। अपनी ख़ामियों को भी ख़ूबियों का पहनावा पहना देते हो!....

यूं....''

''इगोइस्ट!'' उसके वाक्य को मैंने ही पूरा कर दिया और दूसरा कश लेकर सिगरेट उसकी ओर बढ़ा दिया।

उसने बिना झिझक सिगरेट लेते हुए एक लम्बा कश लगाकर धुआं नाक से निकालते हुए कहा-

''तम्हें आश्चर्य नहीं हो रहा?''

''आश्चर्य मुझे तब भी नहीं हो रहा था जब पहली बार ट्रेन में साथ सफ़र करते हुए तुमने कहा था- ''सिगरेट पी लेने के बाद फेंकना नहीं, मुझे दे देना....और मैंने ऐसा ही किया था।''

''तुम्हें याद है वह सफ़र?''

''..........''

''यादों में जीना छोड़ दो निर्मल...पीछे मुड़कर देखो ही नहीं...जो सामने है उसी को देखो...''

''सामने तो समुद्र है!''

''तो चलो उसीको जीते हैं।''

वह उठ खड़ी हुई और मुझे भी खींच कर उठा लिया। मेरा हाथ पकड़कर समुद्र की ओर दौड़ने लगी।

''क्या कर रही हो!'' घुटनों तक पानी में पहुंच जाने पर मैंने कहा।

''कितना अच्छा लग रहा है। और आगे चलो न!''

लहरों से लड़ती हुई वह आगे बढ़ती रही!

"आत्म हत्या करने का इरादा है मेरे साथ..."

वह रुक गई और अचानक गंभीर हो गई।

"ज़िन्दगी भर और किया ही क्या है मैंने!"

हम वापस किनारे की ओर लौटने लगे।

"अपने आपको असाधारण तरीके से जान बूझ कर और अचानक ख़त्म कर देने को ही तुम आत्म हत्या मानते हो क्या!"

"..........."

"व्यक्ति....साधारण तरीके से सोच समझ कर अपने आपको, धीरे धीरे टुकड़ा टुकड़ा कर भी तो खत्म कर सकता है....उसको क्या बोलोगे तुम....

बोलो

"पागलपन..."

अब चुप होने की बारी शायद छाया की थी। किनारे पर पहुंच कर वह रेत पर बैठ गई और लम्बी लम्बी सांसें लेने लगी।

"अब लौटना चाहिए- छाया...."

"नहीं थोड़ी देर बैठो अभी।"

"तुम ठीक तो हो न!"

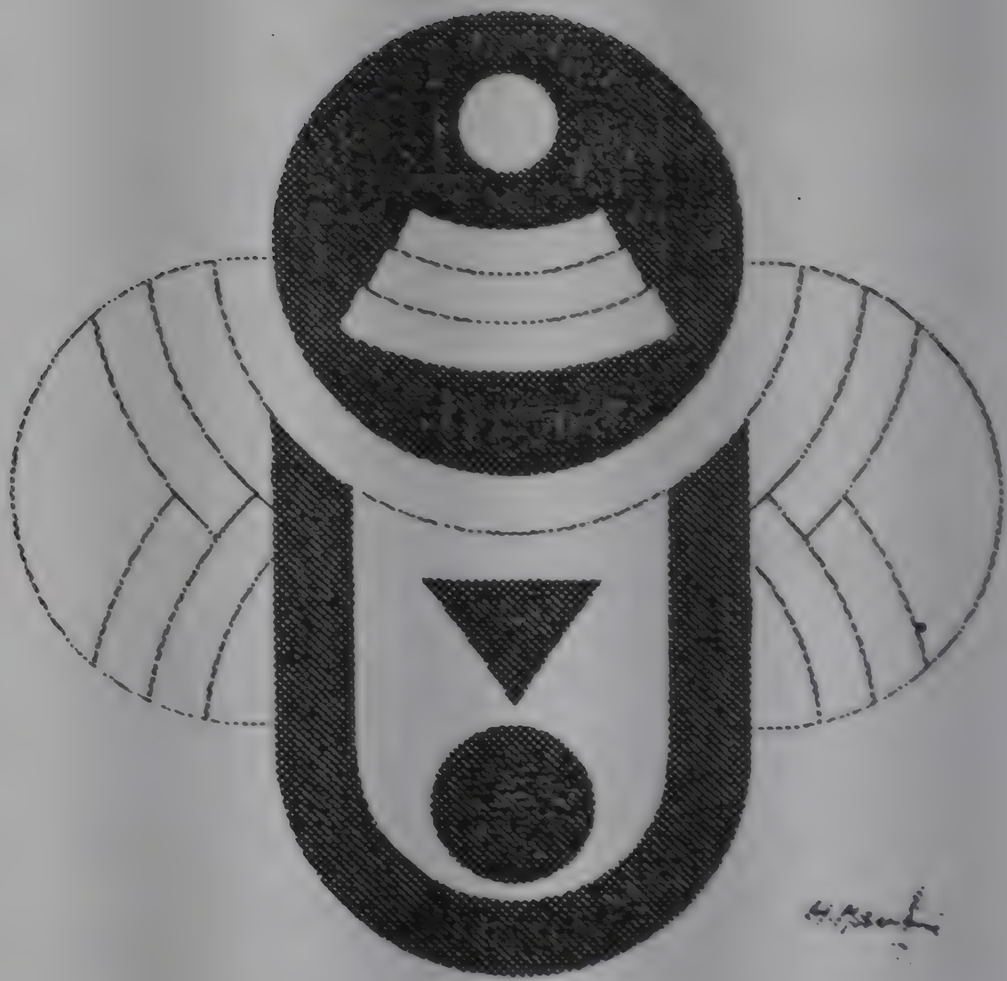
"बिलकुल"

वह एक दम चुस्त हो गई।

"बैठो न तुम..."

मुझे बैठना ही पड़ा।

"अब कुछ नहीं बोलेंगे थोड़ी देर..." उसने अपना सर, मेरे कंधे पर रख दिया, "बस यों ही बैठे रहेंगे चुप-चाप!"



लोक कथाएँ :

प्रस्तुतकर्ता : हरिकान्त

राजा का मूल्य

एक था राजा। एक दिन वह अपने महल में बिस्तर पर लेट कर कुछ ोच रहा था। अचानक उसके मन में प्रश्न उठा कि मेरा मूल्य कितना है? सने सोचा मेरे पास इतना बड़ा राज्य है, मेरा मूल्य उससे तो अधिक ही ोगा। लेकिन कितना है वह मूल्य ? वह यह जानने के लिए आतुर हो ठा।

अगले दिन सुबह होते ही उसने अपने मंत्री को अपने पास बुलाकर सके सामने यह प्रश्न रखा। मंत्री ऐसा अजीब सवाल सुनकर हैरान हो या। उसने सोचा – राजा का मूल्य कौन आंक सकता है ? अगर कम ताया जाएगा तो राजा नाराज होकर सजा देगा – और अगर अधिक ताया जाए तो भी कहेगा चापलूसी करते हो। अब किया क्या जाए ? क ओर कुआं और दूसरी ओर खाई। जाएं तो जाएं कहां ।

लेकिन प्रश्न राजा ने पूछा था सो उसका उत्तर तो देना ही होगा । त्तर न देने से भी काम नहीं बनता । उसने राजा से कहा – "महाराज, झे आठ दिन का समय दिया जाए। आठवें दिन दरबार में हाजिर होकर अवश्य उत्तर दूंगा।"

"तुम्हें आठ दिन का समय दिया जाता है।" लेकिन आठवें दिन दि तुमने उत्तर न दिया तो तुम्हें फांसी पर लटका दिया जाएगा।" राजा मंत्री को आठ दिन की मोहलत देते हुए कहा।

अब तो मंत्री को अपने प्राण-रक्षा की चिन्ता होने लगी। कांपता-

कांपता वह महल से बाहर निकला।

उसने कई बड़े-बूढ़ों, सयानों और बुद्धिमानों से प्रश्न का उत्तर जानने की कोशिश की। पर कोई भी उसको सन्तोषजनक उत्तर न सुझा सका।

बात सारे शहर में फैल गई। चौकर चौराहे पर जहां भी दो चार आदमी इकट्ठे होते इसी बात की चर्चा होती – "राजा का मूल्य कितना?"

नगर में एक बालक रहता था जो मूंगफली बेचकर अपना और अपनी मां का पेट पालता था। उसने जब देखा कि लोग जगह-जगह इकट्ठे होकर बड़े ही रहस्यमय ढंग से आपस में किसी विषय पर चर्चा करते हैं तो उसे भी बात जानने की उत्सुकता हुई।

भीड़ में जाकर उसने एक आदमी से पूछा - "क्या बात है भाई। सब लोग इतने परेशान क्यों नज़र आते हैं?"

उस व्यक्ति ने उसे झिड़क कर कहा –तुझे इन बातों से क्या लेना देना। जा भाग। जाकर अपना काम कर।"

लेकिन वह वहां से नहीं हिला। उसको वहीं खड़ा देखकर और तंग आकर उसी व्यक्ति ने उससे कहा–"तू नहीं मानता तो सुन। लोग इस प्रश्न पर बहस कर रहे हैं कि राजा का मूल्य कितना होता है।"

"बस। इतनी सी बात ने सब को परेशान कर रखा है। मैंने समझा किसी पड़ोसी देश ने हमारे देश पर हमला बोल दिया है," लड़के ने फट से कहा।

"तो क्या तू इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है ?" व्यक्ति ने पूछा।

"क्यों नहीं। यह भी प्रश्न हुआ। मैं इसका उत्तर देने के लिए तैयार हूं।"

व्यक्ति ने उसे छोटा बालक समझ कर उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और वहाँ से चल दिया।

उधर मंत्री बहुत परेशान था। सात दिन बीत चुके थे। एक ही दिन

बाक़ी रह गया था। कल राजा को यदि उसके प्रश्न का उत्तर न मिला तो...मंत्री सोचते ही कांप गया। वह मुंह लटकाए बहुत चिंतामग्न बैठा था कि एक व्यक्ति उसके पास आया और भीड़ में लड़के की बात चीत के बारे में उसे बताया। उसने मंत्री को यह भी बताया कि लड़का बड़े विश्वास के साथ कहता है कि राजा के प्रश्न का उत्तर दे सकता हूं। सुनकर मंत्री बहुत प्रसन्न हुआ। डूबते को तिनके का सहारा। मंत्री ने उस बालक को ढूंढ कर लाने को अपने नौकर को तुरन्त दौड़ा दिया।

नौकर ने लड़के को ढूंढ तो निकाला लेकिन उसको साथ लिए बिना ही लौट आया। लड़के ने कहलवा भेजा कि ''मंत्री-बुलावे पर मैं पैदल थोड़े ही जाऊंगा। मुझे एक अच्छा घोड़ा भेजा जाए। मैं उस पर सवार होकर आऊंगा।''

मरता क्या न करता। फिर मंत्री के लिए यह कौन बड़ी बात थी। उसने लड़के के लिए एक अच्छा घोड़ा भिजवा दिया। उस पर सवार होकर जब वह मंत्री के पास पहुंचा तो मंत्री ने प्रश्न किया– ''राजा का मूल्य बताओ।''

बालक ने हँस कर कहा– ''धीरज रखिए, मैं राजा को स्वयं बता दूंगा। आप मुझे राजा के सामने ले चलिए।''

अगले दिन मंत्री उस बालक को साथ लेकर राज-दरबार में पहुँचा। दरबार उत्सुक लोंगों से खचा खच भरा था। सभी यह जानना चाहते थे कि मंत्री क्या उत्तर देता है। दे भी सकता है या नहीं।

मंत्री ने आदर के साथ राजा से प्रार्थना की कि मेरी ओर से प्रश्न का उत्तर इस बालक को देने की आज्ञा दी जाए।

राजा ने आज्ञा दे दी और बालक से पूछा--''बताओ मेरा मूल्य कितना है?''

लड़के ने मुस्करा कर कहा-- ''धीरज रखिए राजन्। मैं अभी आप के प्रश्न का उत्तर देता हूं।''

दरबार में थोड़ी देर के लिए शान्ति छा गई। लेकिन लड़का न बोला राजा ने कड़क कर अपना प्रश्न दोहराया।

कुछ देर चुप रहकर लड़के ने कहा- "मैं प्रश्न का उत्तर ऐसे थोड़े ह दे दूंगा। मेरी मां झोंपड़ी में रहती है। पालकी भेजकर उसको आदर वे साथ यहां लाया जाए और उसके रहने का प्रबंध किया जाए। तब मैं उत्त दूंगा।"

राजा ने बालक की बात मान ली और पालकी भेजकर उसकी मां क महल में बुलवा लिया।

यह सब हो जाने के बाद लड़के ने राजा से कहा- "राजन् आ अपना प्रश्न वापस ले लें तो अच्छा होगा। कृपा करके अपना मूल्य जान का आग्रह छोड़ दें।"

लेकिन राजा ने लड़के की बात न मानी। लड़के ने कहा- "तो ठीव है। यदि आप अपना मूल्य जानना ही चाहते हैं तो मैं अभी उत्तर देत हूं।" यह कहकर उसने एक तराजू मंगवाई। उसको ऊपर उठाकर उस देखा कि उसके दोनों पलड़े समान थे।

फिर उसने राजा से पूछा --"राजन् इस तराजू के दोनों पलड़े बराब हैं कि नहीं? दोनों में कोई असमानता तो नहीं है?"

"नहीं। दोनों समान हैं।" राजा ने उत्तर दिया।

लड़के ने एक पलड़े में एक सेर का बाट रख कर तराजू को ऊप उठाया तो बाट वाला पलड़ा नीचे रहा और खाली पलड़ा ऊपर उ आया।

फिर उसने खाली पलड़े में भी एक सेर का बाट रखकर तराजू व ऊपर उठाया। दोनों पलड़े फिर बराबर हो गए उसने राजा से फि पूछा- "अब बताइए कौन सा पलड़ा भारी है?"

"अब भी दोनों पलड़े समान हैं" राजा ने उत्तर दिया।

लड़के ने मूंगफली का एक दाना दाएं पलड़े में डाल कर पूछा
ब।"

मूंगफली का दाना पड़ने से दायां पलड़ा भारी हो गया और थोड़ा झुक गया। राजा ने उत्तर दिया– "दायां पलड़ा भारी है।"

"क्यों ?" लड़के ने पूछा।

"क्योंकि इसमें मूंगफली का एक दाना भी है। 'राजा ने उत्तर दिया।

"तो राजन् आप का मूल्य एक मूंगफली के दाने के बराबर है।" के ने सहज भाव से कहा।

"वह कैसे ?" राजा ने पूछा।

"देखिए, जैसे हर पलड़े में एक एक सा भार रहने से दोनों समान हैं ठीक उसी प्रकार हर मनुष्य में एक जैसे प्राण होते हैं और सभी व समान होते हैं। संयोग से भाग्य रुपी एक मूंगफली अधिक होने से पलड़ा भारी हो जाता है। इसी प्रकार भाग्य रुपी एक मूंगफली आपको क मिलने से आपको राजा का यह पद मिला है और हम सब आपकी बने हैं। ईश्वर की कृपा से आपके पलड़े में एक मूंगफली अधिक है हमारे में नहीं है। आशा है आप मेरा अभिप्राय समझ गए होंगे।

"तो मेरा मूल्य केवल एक मूंगफली है?" राजा ने लड़के की बात के अर्थ को समझते हुए कहा।

"जी हां।" लड़के ने कहा।

राजा का सारा घमण्ड चूर हो गया। उसने प्रसन्न होकर लड़के को सौ मोहरें इनाम में दीं और अपने दरबार में अच्छे पद पर नियुक्त कर
।

नूरी और ज़ाम तमाची

सिन्धु देश में बहुत समय पहले ज़ाम तमाची नामक एक राजा प्रसिद्ध था। उसी काल में कींझर झील के आस-पास मछियारों की एक बस्ती थी। मछियारों के रहने के लिए मकान नहीं होते थे और वे प्रायः अपनी नौकाओं में ही रहते थे। कबीले के पुरुष सदस्य झील में से मछली पकड़ कर लाते और महिलाएं बस्ती के समीप बाज़ार में मछलियां बेचने का काम करती थीं।

कबीले के लोग बहुत ग़रीब थे साथ ही बहुत कुरूप और गंदे भी। बच्चे, बूढ़े सभी फटे-पुराने चीथड़े पहनते थे। उनकी बस्ती मानो पूरा नरक थी। मछलियों की बदबू से तो माथा हीं फटता था। तीव्र दुर्गन्ध के कारण लोग उधर से होकर जाने से भी कतराते थे।

उसी बस्ती में एक अत्यन्त सुन्दर लड़की ने जन्म लिया उसके मां-बाप ने उसका नाम नूरी रखा जिसका अर्थ होता है प्रकाशमान।

ज़ाम तमाची को यात्रा और भ्रमण का बहुत शौक़ था। उसने एक दिन कींझर झील में नौका-विहार करते हुए किनारे पर खड़ी नूरी को देख लिया। लड़की की सुन्दरता ने उस पर जादू कर दिया। सारे कबीले में वही एक साफ सुथरी लग रही थी।

महल में लौटने के बाद भी ज़ाम तमाची नूरी की सून्दरता को भुला न सका। रात भर वह करवटें बदलता रहा। सुबह होते ही उसने नूरी के मां-बाप को संदेश -भेजा कि मैं उस से विवाह करना चाहता हूं।

राजा का प्रस्ताव पाकर मछियारों की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होने तुरन्त राजा की बात स्वीकार कर ली।

ज़ाम तमाची ने सारे राज्य को सजाने-संवारने का आदेश दिया।

मछियारों के सभी कर माफ कर दीए गए। और कबीले को सभी सुविधाएं दी गई।

नूरी एक महान राज्य की रानी बन गई। ज़ाम तमाची नूरी को इतना प्यार करता कि कभी कभी अपना प्रभुत्व भूल कर नूरी के सामने अपना सर भी झुका देता था। हर शाम वह नूरी को राजकीय नौका में बिठाकर कींझर झील में नौका-विहार के लिए ले जाता। कभी-कभी नौका से उतर कर वे झील के किनारे पर भ्रमण करते थे।

राज्य की अन्य रानियां भी नूरी को झुक कर प्रणाम करती। इतना आदर और सम्मान मिलने पर भी नूरी का स्वभाव सहज और विनम्र ही रहा। वह राजा से कहती– "मैं तो एक तुच्छ मछियारिन थी। आप की कृपा दृष्टि ने मुझे और मेरे कबीले को ऊपर उठा लिया है।"

एक दिन ज़ाम तमाची ने अपनी प्रिय रानी नूरी की नम्रता को परखने का इरादा किया। उसने अपनी सभी रानियों को बुलाकर कहा वे अपनी सुंदरतम वेशभूषा पहनकर तैयार रहें। राजा जिसे सर्वोत्तम समझेगा उसको अपने साथ झील पर घुमाने के लिए ले जाएगा।

सभी रानियों ने खूब श्रृंगार किया और बहुमूल्य और सुवासित वस्त्रों और आभूषणों से सजधज कर तैयार हो कर राजा की प्रतीक्षा करने लगीं। नूरी ने वही वस्त्र पहने जब राजा उस पर मोहित हुआ था।

ज़ाम तमाची ने महल में प्रवेश किया। सभी रानियों ने आकर उसे घेर लिया। हर एक यही समझ रही थी कि राजा उसे ही चुनेगा। लेकिन नूरी ने दूर ही से सर झुका कर राजा को प्रणाम किया। राजा ने उसको अपने पास बुलाया। वह आदर से आखें झुका कर अपने पति की ओर बढ़ने लगी। अन्य रानियां नूरी की वेशभूषा देखकर उसका उपहास करने लगीं। परन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि राजा ने नूरी के पास जाकर उसे गले लगा लिया।

उसी दिन के बाद ज़ाम तमाची ने नूरी को अपनी पटरानी बनाया और सारी कींझर झील उसके कबीले को भेंट में दे दी।

शाम होते ही जैसे ही दुकानें बन्द हुईं और लोग अपने अपने घरों में जाकर आराम करने लगे, चाण्डू अपनी सराय से बाहर निकला और छुप-छुप कर गलियों में घूमने लगा।

रास्ते में उसे एक व्यक्ति मिला जो उसे चोर नज़र आया। लेकिन चाण्डू को मालूम था कि चकोर राजा के देश में चोर नहीं होते। इसलिए वह समझ गया कि हो न हो यह राजा का ही सिपाही है और भेष बदल कर मुझे पकड़ने की चाल चल रहा है। मौका मिलते ही वह उस आदमी पर झपटा और उससे उसका परिचय मांगा। वह तो स्वयं राजा चकोर था लेकिन उसने अपना रूप छुपाते हुए बड़ी विनम्रता से कहा, "भाई, मैं एक मामूली चोर हूं। जब से राजा चकोर सिंहासन पर बैठे हैं मैं चोरी नहीं कर पाया हूं। आज मैंने सुना कि चोरों का राजा चाण्डू नगर में आया है। मैं उसी की तलाश में हूं ताकि हम दोनों मिलकर कोई चोरी कर सकें। जहाँ तक मेरा ख्याल हैं तुम ही चाण्डू लगते हो । क्यों ।?"

"आदमी काम के लगते हो। विश्वास करो मुझे तमु से मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई है। अब बताओ कहां से शुरु करना है ?" चाण्डू ने कहा।

राजा चाण्डू को नगर के धनी व्यापारी के घर ले गया। प्रवेशद्वार पर खूब पहरा था। पिछवाड़े भी एक संतरी खड़ा था। चाण्डू ने संतरी को पकड़ कर उसे रस्सी से अच्छी तरह बांध दिया और अपने साथी से कहा, "तुम इस पर नज़र रखो मैं अन्दर जाता हूं।" और वह स्वयं अन्दर चला गया।

अन्दर जाकर उसने देखा कि दीपक के प्रकाश में मटके जैसे पेट वाला एक व्यक्ति अपने वही खातों पर झुककर बार-बार उंगलियों पर गिनती कर रहा है। वह बार-बार किताबों में झांकता, रुपये गिनता और एक ठण्डी सांस लेता था। हिसाब में एक पैसे का अन्तर आ रहा था। वह फिर वही खातों को देखता, उंगलियों पर हिसाब लगाता, रुपये गिनता और एक ठण्डी सांस लेता। उसकी पत्नी बार-बार उसके पास आकर उससे

भोजन करने का आग्रह करती लेकिन वह उसे झिड़क कर वापस लौटा देता था। यह सब केवल एक पैसे के लिए। चाण्डू तुरन्त साहूकार के घर से निकल आया। उसको खाली हाथ आता देखकर उसका साथी प्रश्न भरी आंखों से उसकी ओर देखने लगा।

"वह आदमी बहुत कंजूस है दोस्त ! एक पैसे का हिसाब न मिलने के कारण उसका खाना-पीना हराम हो गया है। मैं अगर ऐसे आदमी के घर से चोरी करूंगा तो वह अपनी हानि पर मर भी सकता है। मैं किसी की मौत का कारण नहीं बनना चाहता। चलो कहीं और चलें," चाण्डू ने कहा।

उसका साथी उसे एक जौहरी के घर ले गया। चाण्डू अन्दर से बहुत सारा माल उठा लाया और वह अपने साथी को सौंप कर फिर अन्दर चला गया। अन्धेरे में उसका हाथ मिट्टी के एक बर्तन से छू गया। बर्तन में उसकी उंगलियां किसी नरम सी चीज से छू गई। चाण्डू ने चुटकी भर कर उसे चख लिया। वह नमक था। वह तुरन्त बाहर आया। अपने साथी से सारा सामान लेकर वापस अन्दर रख आया।

कारण पूछने पर चाण्डू ने बताया, "मित्र इस घर का मैंने नमक चख लिया.. हालांकि गलती से। इसलिए इस घर से भी चोरी करना नमकहरामी होगी। यह मेरे उसूल के खिलाफ है। चलो कहीं और चलकर किस्मत आजमाते हैं। इधर उधर भटकने से अच्छा होगा राज-महल में चलें ! राज-महल से थोड़ा सा धन उठा लेने पर कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा । चलो।"

राजा चाण्डू को अपने महल में ले आया। उसने चाण्डू को बताया कि राजा के पलंग के चारों पायों के नीचे सोने की चार ईंटें रखी हुई हैं। क्यों न उन्हीं को चुरा कर राजा को सबक सिखाया जाए ?"

चाण्डू को बात एकदम पसन्द आ गई।

चौकीदारों की नज़र से बचकर छुप-छुप कर वे दोनों राजा के सोने

वाले कमरे में पहुंचे। सोने की ईंटें अंधेरे में भी चमक रही थीं। जैसे ही वे कमरे में पहुंचे तो पलंग के नीचे से एक कुत्ता भौंक उठा। उसके पीछे-पीछे एक और कुत्ता भी भौंकने लगा। चाण्डू उनकी बात समझ गया। पहले कुत्ते ने कहा, ‘‘यह देखो चाण्डू चोर यहाँ भी पहुंच गया। हो न हो यह सोने की ईंटें चुराने यहां आया है । होशियार ।’’

इस पर दूसरे कुत्ते ने भौंक कर कहा - ‘‘चुप हो जा बेवकूफ देखता नहीं मालिक स्वयं उसके साथ है। क्यों अपना सर खपा रहा है ?’’

चाण्डू अपने साथी की ओर मुड़ा और झुक कर आदर के साथ कहा, ‘‘चाण्डू चोर के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि आज राजा स्वयं उसका साथी बना हुआ है।’’

राजा अपने पहचाने जाने पर चकित हो गया। उसने चाण्डू से उसका भेद जानना चाहा ।

चाण्डू ने कुत्तों की ओर इशारा करते हुए बताया कि मैं पक्षियों और पशुओं की बोलियां समझता हूं।

राजा चकोर चाण्डु को गुणी व्यक्तित्व और ईमानदारी से पहले ही प्रभावित हो चुका था। उसने चाण्डू से सदा के लिए अपने ही राज में रहने का अनुरोध किया। चाण्डू इन्कार नहीं कर सका और राजा का विशेष सलाहकार बनकर वहीं रहने लगा।

एकता का बल

एक अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति था। परिवार उस का छोटा ही था। बस पति-पत्नी, एक पुत्र और एक पुत्री। लेकिन फिर भी वह दाने-दाने को तरसते थे। सुबह को ज्यों-ज्यों करके पेट भर जाता तो रात का कुछ भरोसा नहीं कि दो रोटी मिलेंगी भी या भूखा ही सोना पड़ेगा। एक दिन उसने सोचा कि इस स्थिति में इस गांव में कब तक पड़े रहेंगे। क्यों न कहीं और जाकर नसीब आज़माया जाए। शायद भाग पलट जाए। यह सोचकर वह अपने परिवार के साथ गांव छोड़कर चल दिया। किधर जा रहा है यह वह खुद नहीं जानता था।

चलते-चलते परिवार के सब लोग थक गए। दरिद्र व्यक्ति ने कहा - ''चलो उस पेड़ की छाया में बैठकर कुछ देर आराम कर लेते हैं।''

सभी पेड़ की छाया में बैठ गए।

पेड़ की एक शाखा पर पक्षियों का एक जोड़ा बैठा था। उन्हें देखकर व्यक्ति ने अपनी पत्नी से कहा, ''देखो, तुम पतीला मांज कर साफ कर लो ये जो पक्षी पेड़ पर बैठे हैं, मैं अभी उन्हें मारता हूं। दोपहर का भोजन हो जाएगा।''

फिर उसने पुत्र से कहा, ''बेटा, तुम जंगल में लकड़ियों का प्रबंध करो ताकि इन पक्षियों को पका कर पेट की भूख मिटा सकें।''

फिर बेटी को बुलाया और कहा - ''तुम आग जलाने की तैयारी करो। अभी जाल बनाकर पक्षियों को पकड़ने का प्रबन्ध करता हूं।''

उसने अपनी बात पूरी भी नहीं की थी कि उसकी पत्नी ने पतीला मांजना शुरू कर दिया, पुत्र कुल्हाड़ी लेकर जंगल की ओर चल दिया और पुत्री घास फूस इकट्ठा करने में लग गई।

यह देखकर पक्षी आपस में बात करने लगे।

एक- "सुनो।"

दूसरा - "कहो।"

एक - "तुमने देखा इनकी आपस में कितनी एकता है। बिना वाद-विवाद के वे आज्ञा का पालन करने में जुट गए हैं। ये हमें अवश्य मारेंगे। जहाँ एकता है वहां कुछ भी असम्भव नहीं। जान बचाने के लिए हमें कुछ न कुछ करना चाहिए।"

दूसरा - "क्यों न यहां से उड़ चलें ?"

पहला - "यह पेड़ ही तो हमारा घर है। डर कर अपना घर छोड़ देना उचित नहीं।

दूसरा - "फिर?"

पहला - "जिस पेड़ पर हम बैठे हैं उसकी जड़ में एक शाही पेटी है, जिसमें सोने की मुद्राएं भरी हुई हैं। क्यों न इनको उसका पता बताकर हम अपनी जान बचा लें। मनुष्य धन का भूखा होता है। धन लेकर वे हमारा पीछा नहीं करेंगे।"

दूसरा - "तो ठीक है। ऐसा ही करते हैं।"

इस प्रकार दोनों पक्षियों ने आपस में विचार-विमर्श करने के बाद निश्चय किया कि दरिद्र परिवार को छुपे हुए खज़ाने का पता बता दिया जाए।

पहला पक्षी उड़कर उस व्यक्ति के पास जा कर बैठा और उससे कहा- "देखिए हम आपका दुख जानते हैं। हम आपको सदा के लिए दरिद्रता से मुक्त करा सकते हैं। लेकिन आप वचन दीजिए कि हमें मारेंगे नहीं। हमें मार कर खाने से केवल एक बार अपनी भूख मिटा सकेंगे। लेकिन हमारी बात मानने से आप जीवन भर भूख की चिंता से मुक्त ही नहीं हो जाएंगे बल्कि सदा के लिए मालामाल भी हो जाएंगे।"

पक्षी की बात सुनकर व्यक्ति ने कहा - "भाई हम तुम्हारे प्राण लेने में खुश नहीं हैं। भूख के कारण ही हमने ऐसा सोचा था। हमें तुम्हारी बात स्वीकार है।"

पक्षी ने उसको स्वर्ण मुद्राओं से भरी हुई पेटी का पता बताया। सबने मिलकर पेटी को खोद निकाला और उसी दिन वापस गांव लौट आये। अगले दिन उन्होंने

अपने रहने के लिए एक शानदार मकान बनवाना शुरु कर दिया।

पड़ोसियों ने जब देखा कि यह व्यक्ति जो कल तक दाने-दाने को तरसता था और आज अचानक ही इतना धनी कैसे बन गया है तो वे लगे उससे पूछने कि, "यह सब कैसे हुआ?" पहले तो वे टालते रहे लेकिन एक पड़ोसिन के बार-बार पूछने पर पत्नी ने सोचा कोई चोरी का धन तो है नहीं, क्यों न सच-सच बता दूं। यह सोचकर उसने उससे कहा - "बहन, दिया तो ऊपर वाले ने है, लेकिन दो पक्षियों के द्वारा..."

"वह कैसे ?" पड़ोसिन ने उत्सुकता से पूछा।

उसने सारी बात बता दी।

पड़ोसिन ने घर जाकर यह बात अपने पति को बताई। पति ने सोचा हम भी क्यों न इसी प्रकार शीघ्र ही धनवान बन जाएं। वह भी अपने परिवार के सभी सदस्यों को समझा बुझाकर जंगल में उसी दिशा में चल दिया जहां वह पेड़ था। उन्होंने पेड़ को पहचान लिया। उस पर दो पक्षी बैठे थे। अब क्या था उनके मन में लड्डू फूटने लगे। वह सोचने लगा अब स्वर्ण मुद्राएं उसके हाथ लगने में देर नहीं। उसने झटपट जाल बनाना शुरू कर दिया और पुत्र को बुलाकर कहा - "तुम जाकर लकड़ी ले आओ। मैं रस्सी का जाल बुनकर इन पक्षियों को पकडूंगा फिर हम इन्हें पकाकर खाएंगे।"

बाप की बात सुनकर बेटे ने चिढ़ते हुए कहा - "पक्षी फंसे ही नहीं और अभी से लकड़ी की चिन्ता लगी है।"

उस व्यक्ति ने अपनी पुत्री को बुलाया और कहा - "तुम जाकर आग जलाने के लिए घास फूस इकट्ठा करो मैं जाल बुनकर पक्षियों को पकड़ूंगा और फिर हम उन्हें पकाएंगे।"

लड़की ने कहा - "रस्सी बनी नहीं, पक्षी पकड़े नहीं और चिंता आग जलाने की।"

यह वार्तालाप सुन कर एक पक्षी ने दूसरे से हँसते हुए कहा - "इनमें आपस में एकता तो है नहीं और चले हैं हमें मारने..."

देखते-देखते दोनों पक्षी वहां से उड़ गए।

और वह ईर्ष्यालु व्यक्ति हाथ मलता वापस गांव लौट आया।

सत्यवादी गामू

किसी समय उत्तर सिन्धु देश के लक्करपुर गांव का मुखिया एक बड़ी हवेली में रहता था। हवेली के चारों ओर मिट्टी की दीवारें थी और अन्दर जाने के लिए केवल एक द्वार था।

मुखिया के पास सब कुछ था। केवल संतान नहीं थी। मुखिया और उसकी पत्नी दिन-रात भगवान से संतान के लिए प्रार्थना करते। उन्होंने कई तीर्थ यात्राएं कीं और साधु संतों तथा फकीरों से भी संतान प्राप्ति के लिए मिन्नतें मांगीं। पर संतान का मुंह देखने के लिए तरसते ही रहे। संतान न होने के कारण उनका जीवन दुखमय हो गया और इसी चिन्ता में उन्हें रात को नींद भी न आती थी।

मुखिया को शिकार खेलने का बहुत शौक था। वह जब भी शिकार खेलने जाता अपनी हवेली का एकमात्र द्वार बाहर से बन्दर कर जाता। एक बार जब वह शिकार खेलने कहीं दूर गया हुआ था तो उसकी अनुपस्थिति में एक महापुरुष लक्करपुर आया। वह जैसे ही हवेली के पास पहुंचा तो बन्द द्वार स्वयं ही खुल गया। घोड़े पर सवार वह महापुरुष हवेली के अन्दर पहुंच गया। मुखिया की पत्नी अजनबी आगन्तुक को देखकर भौंचक रह गई तथा डर भी गई। उसने आगन्तुक से कड़ककर पूछा - "मेरे पति की अनुपस्थिति में तुम हवेली के अन्दर कैसे आए? तुम्हें मालूम है, वह यहां आते ही हम दोनों को मार डालेगा?"

महापुरुष ने मानो सुना ही न हो। वह बड़े धैर्य से बोला - "तुम पर प्रभु की कृपा हो देवी ! मैं तो खुशी का संदेश लाया हूं ।" और वह अदृश्य हो गया।

इतने में मुखिया लौट आया और उसने हवेली का दरवाजा खुला पाया तथा घोड़े के पांवों के निशान देखें। उसे अपनी पत्नी के चरित्र पर शक हो गया वह गुस्से में नंगी तलवार लेकर अपनी पत्नी के कमरे की

ओर बढ़ा। वहां पहुंच कर उसने आव देखा न ताव, पत्नी को बालों से पकड़ कर घसीटते हुए पूछा - "बताओ, मेरी अनुपस्थिति में कौन तुम से मिलने आया था ? मैं उसको अभी नरक भेज दूंगा।"

पत्नी ने हाथ जोड़कर बड़े धीरज के साथ उसे बताया कि एक महापुरुष आया था और उसने आंगन के एक सूखे हुए पेड़ की ओर संकेत किया। उसमें अब हरे-हरे पत्ते झूम रहे थे और एक फल भी लटक रहा था। यह अद्भुत बात देखकर मुखिया के हाथों से तलवार गिर पड़ी और उसने झुककर पेड़ को प्रणाम किया। फिर पत्नी की ओर देखकर सहमी-सी आवाज में पूछा - "तुमने उस महापुरुष से संतान की बात कही ?" पत्नी ने शान्त भाव से उसे बताया - "उस महापुरुष ने भविष्यवाणी की है कि हमें शीघ्र ही एक पुत्र होगा जो सारे सिन्धु देश में विख्यात होगा। उसका नाम गामू रखा जाए।" कुछ ही दिन बाद साधु की बात सच साबित हुई और मुखिया के घर एक चांद सा बालक पैदा हुआ। उसका नाम गामू रखा गया।

गामू अभी बालक ही था कि उसके पिता का देहान्त हो गया। फिर भी उसकी मां उसे बड़े लाड़-प्यार से पालने लगी।

बचपन में ही गामू कभी झूठ नहीं बोलता था। चाहे उसको कितनी ही हानि क्यों न हो वह सदा सच ही बोलता था। इसलिए वह गामू सत्यवादी के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

राजा के पास भी गामू की ख्याति जा पहुंची। राजा ने उसको अपने पास बुलवाया और उसे उच्च पद पर नियुक्त कर दिया। अपने भद्र व्यवहार, सच्चाई, लगन, ईमानदारी और बुद्धिमता से उसने राजा का दिल जीत लिया और उन्नति करते-करते थोड़े ही दिनों में वह राजा का अच्छा विश्वासपात्र बन गया।

राजा अपने दरबार में साफ़ -साफ़ कहता था कि "केवल एक व्यक्ति है जो पूर्ण रुप से वफ़ादार और ईमानदार है। जो कभी झूठ नहीं बोल सकता और आवश्यकता पड़ने पर मेरे लिए अपने प्राण भी न्यौछावर कर सकता है - और वह है गामू ।"

राजा के मन्त्री से गामू की उन्नति देखी नहीं जाती थी। वह बड़ा ईर्ष्यालू था। उसे अंदेशा होने लगा कि गामू एक दिन उसका स्थान ले लेगा और वह कहीं का न रहेगा । इसलिए वह गामू को गिराने के लिए षडयंत्र

रचने लगा। उसने एक दिन राजा से कहा कि "मैं साबित कर सकता हूं कि गामू झूठा है।"

राजा ने पहले तो मंत्री की बात को हँसी में उड़ा दिया लेकिन उसके बार-बार कहने पर उसको आज्ञा दी कि वह अपनी बात का प्रमाण दे। मंत्री ने राजा से कहा कि गामू को आज्ञा दी जाए कि वह राजा के प्रिय ऊंटों को राजमहल के बगीचे में चराने के लिए ले जाए।

गामू को ऐसी ही आज्ञा दी गई। ऊंटों को बगीचे में जाकर उसने उनको चरने के लिए छोड़ दिया और उन पर नज़र रखने लगा ताकि वे फल-फूलों आदि को हानि न पहुंचाएं।

उधर मंत्री दौड़ता हुआ अपने घर पहुंचा और अपनी जवान सुन्दर बेटी से कहा - "तुम बग़ीचे में जाकर किसी प्रकार गामू को मनाओ कि वह राजा के एक ऊंट का वध कर दे।"

मंत्री की बेटी ने गामू की ख्याति सुन रखी थी और मन ही मन उससे प्रेम करने लगी थी। गामू से मिलने का मौका पाकर वह बहुत खुश हुई और बाग़ीचे की ओर चल पड़ी। गामू ने उसे देखकर मुंह फेर लिया। उसने सोचा कि वह राजघराने की कोई बहू-बेटी होगी। वह युवती की ओर बिना ध्यान दिए बग़ीचे की दूसरी ओर को चला गया। लेकिन मंत्री की बेटी उधर भी पहुंच गई। गामू ने उसको अपना पीछा करते हुए देखा तो पूछ ही लिया- "सुन्दरी तुम कौन हो और इस प्रकार बग़ीचे में अकेली क्यों भटक रही हो ?"

मंत्री की बेटी ने सुबकना शुरू कर दिया। गामू परेशान हो गया। सुन्दरी की आंखों में मोती जैसे आंसू देखकर वह उस पर मोहित हो गया। "सुन्दरी तुम बताओगी नहीं कि तुम कौन हो और तुम्हें क्या दुख है ? क्या मैं तुम्हारी कोई सहायता कर सकता हूं ?" उसने पूछा।

मंत्री की बेटी बड़ी मधुर वाणी में बोली - "मैं मंत्री की बेटी हूं और मुझे एक अजीब रोग है। आप चाहें तो मेरी सहायता कर सकते हैं।"

"तुम बताओ तो..."

"मुझे आशा है कि आप अपने वचन पर कायम रहेंगे।"

"ईश्वर की दया से गामू अपने वचन से कभी पीछे नहीं हटता।"

इस प्रकार गामू से वचन लेकर उसने इसे बताया कि ओझाओं ने मुझे बताया है कि मुझे एक खतरनाक रोग है । पर उसका इलाज बड़ा कठिन

है।

"वह क्या ?" गामू ने पूछा ।

मंत्री की बेटी ने फिर आंखों में आंसू लाकर कहा - "मुझे कहते हुए डर लगता है। उसे सुनकर आप शायद ही मेरी सहायता कर पाएं।"

गामू ने और भी आग्रह से पूछा - "नहीं तुम अवश्य बताओ। मैं तुम्हें वचन दे चुका हूं और प्राण देकर भी उसे पूरा करूंगा।

युवती ने कहा - "अच्छा बताती हूं । मेरे रोग का इलाज है राजा के प्रिय ऊंट का दिल। उसे पकाकर खाने से ही मैं अच्छी हो सकती हूं।"

गामू उसकी चाल समझ गया। परन्तु वह वचन दे चुका था और उसके अलावा वह उस लड़की से प्रेम करने लगा था। इसलिए वह उसकी बात को एकदम न ठुकरा सका। वह दुविधा में पड़ गया। सोच-समझकर उसने लड़की से पूछा - "अगर मैं तुम्हें राजा के प्रिय ऊंट को मार कर उसका हृदय निकालकर दूं तो मुझे क्या मिलेगा ?"

"अगर तुम मुझे वह कुछ दे दो जिसकी मुझे आवश्यकता है तो मैं जीवन भर तुम्हारी होकर रहूंगी।"

गामू ने ऊंट का वध कर दिया और उसका हृदय निकाल कर मंत्री की बेटी को दे दिया।

लड़की ने गामू से कुछ लकड़ियां लाने को कहा ताकि वह ऊंट के दिल को पका सके।

गामू के जाते ही वह वहां से भाग गई। लौटने पर गामू को ज्ञात हुआ कि वह ठगा गया है। वह सोच में पड़ गया कि अब मैं राजा को क्या जवाब दूंगा ? उसने सोचा अगर मैं उसको बताता हूं कि ऊंट को शेर खा गया तो राजा अवश्य शेर का पीछा करेगा । लेकिन शेर का कोई चिन्ह तो है नहीं। फिर ? इससे तो वही सिद्ध होगा कि मैं झूठा हूं । कोई और बात सोचनी चाहिए ।

सच बोलने के अलावा उसे और कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया। सच बोलने का निश्चय कर वह ऊंटों को लेकर वापस आया।

अगले दिन सुबह होते-होते सबको मालूम हो गया कि राजा का प्रिय ऊंट गामू के कारण मारा गया है। इसका परिणाम था गामू के लिए कठोर दण्ड । सभी यह जानने को उत्सुक थे कि गामू को क्या दण्ड मिलता है।

सुबह जब दरबार लगा तो राजा को अपने प्रिय ऊंट के मरने की बात

सुनकर बहुत दुख और क्रोध हुआ। राजा ने गामू से सफाई मांगते हुए कहा- "हमें सच-सच बताया जाए। बहाने और मन घढ़ंत बातें नहीं। यह सब कैसे हुआ ?"

गामू राजा के सामने खड़ा हो गया और कसम खाई कि मैं सदा सच बोलता आया हूं, और आज भी सच ही बोलूंगा। फिर उसने बताया कि किस प्रकार एक सुन्दर लड़की ने बगीचे में आकर उसको बताया कि उसे एक ऐसा रोग है जो केवल राजा के प्रिय ऊंट का दिल पका कर खाने से ही दूर हो सकता है। उस बाला को रोग से मुक्ति दिलाने के लिए उसने स्वयं ऊंट को मार डाला।

यह सुनकर सभी चकित रह गए कि गामू ने स्वयं ऊंट का वध किया था। इसका दण्ड केवल मृत्यु हो सकता था। किन्तु राजा सच सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने गामू से कहा - "हमें पूरा विश्वास था कि तुम झूठ नहीं बोलोगे। मृत्यु दण्ड से डर कर, तुमने अपना अपराध किसी और पर डालने-लादने की कोशिश नहीं की। हमें तुम्हारे व्यवहार से बहुत प्रसन्नता हुई। तुम्हें इसका पुरस्कार मिलना चाहिए। लेकिन पुरस्कार देने से पहले हम यह जानना चाहेंगे कि वह सुन्दरी कौन थी और उससे तुम्हें क्या मिलने की आशा थी कि तुमने हमारे प्रिय ऊंट को मार डाला।"

गामू ने उत्तर दिया - "महाराज ! उस बाला ने मुझे वचन दिया था कि वह हमेशा हमेशा के लिए मेरी हो जाएगी। लेकिन उसके वचन के कारण नहीं, मैंने अपने दिए हुए वचन के कारण ही ऊंट का वध किया।"

"तुम हमें यह बताओ कि वह युवती कौन थी," राजा ने गरज कर पूछा। दरअसल वह समझ गया था कि वह कौन हो सकती थी।

"महाराज ! वह हमारे मंत्री महोदय की पुत्री थी" गामू ने उत्तर दिया।

राजा ने आज्ञा दी - "मंत्री, तुम्हारी सुपुत्री ने गामू को वचन दिया है कि वह जीवन संगिनी होकर रहेगी। तीन दिन के अन्दर उसका गामू से विवाह कर दिया जाए।"

और तीन दिन के अन्दर गामू का मंत्री की सुन्दर बेटी से विवाह हो गया और दोनों सुख से रहने लगे।

हरिकांत की साहित्यिक पूंजी

1.	पिरह खां पहिरीं	तराइल	1961	सिन्ध
2.	एकांकी	एकांकी नाटक	1964	सिन्ध
3.	मकान ख़ाली आहे	एकांकी नाटक	1977	सिन्ध
4.	फहिलजंदड़ रेगिस्तान	कहानियां	1978	सिन्ध
5.	उघाड़ा आवाज़	नई कविता	1981	सिन्ध
6.	एक टुकड़ा इतिहास	लंबी कविता	1983	हिन्द
7.	लप भरि रोशनी	नई कविता	1987	सिन्ध
8.	सोच जूं सूरतूं	नई कविता	1990	सिन्ध
9.	उणवीहों अध्याय	नई कविता	1995	सिन्ध
10.	खिटरागु	नाटक	1996	सिन्ध
11.	जेब्रा क्रॉसिंग ते	कहानियां	1997	सिन्ध
12.	तिरक ताल	नाटक	2001	सिन्ध
13.	आवाज़ों का जंगल	कविता संग्रह	2007	हिन्द
14.	हत्या हिक सपने जी	नाटक	2012	सिन्ध
15.	एक थकी हुई मुस्कान	कहानी संग्रह	2014	हिन्द

अनुवाद

16.	नेक जीवन जूं राहूं	Altruism	1965	सिन
17.	श्री अरबन्दो घोष	जीवनी	1979	सिन
18.	भूत...भूत...	नाटक	1988	सिन



सम्पादन

1.	सिंधु समाज	त्रिमासिक	1958-196
2.	साहित्य धारा	मासिक पत्रिका	1964-196
3.	आखाणी	मासिक पत्रिका	1965-196